प्रकीर्णक पुस्तकावली

कुल्ली भाट

[हास्यरस-पूर्ण जीवन]

लेखक
श्रीसूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
(अप्सरा, परिमल, अलका, लिली, महाभारत, प्रबंध-पद्म आदि के रचयिता)

मिलने का पता—
गंगा-ग्रंथागार
३६, लाटूश रोड,
लखनऊ

द्वितीयावृत्ति

सजिल्द १॥] सं० २००४ वि० [सादी १)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. गंगा-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, १, जांसटनगंज, प्रयाग
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. राष्ट्रीय प्रकाशन-मंडल, मछुआ-टोली, पटना
५. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
६. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
७. एन० एस० भटनागर एंड ब्रादर्स, उदयपुर
८. दक्षिण-भारत-हिंदी-प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मदरास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

समर्पण

इस पुस्तिका के समर्पण के योग्य कोई व्यक्ति हिंदी-साहित्य में नहीं मिला, यद्यपि कुल्ली के गुण बहुतों में हैं, पर गुण के प्रकाश से सब घबराए। इसलिये समर्पण स्थागित रखता हूँ।

'निराला'

भूमिका

पं० पथवारीदीनजी भट्ट (कुल्ली भाट) मेरे मित्र थे। उनका परिचय इस पुस्तिका में है। उनके परिचय के साथ मेरा अपना चरित भी आया है, और कदाचित अधिक विस्तार पा गया है। रूढ़िवादियों के लिये यह दोष है, पर साहित्यिकों के लिये, विशेषता मिलने पर, गुण होगा। मैं केवल गुणग्राहकों का भक्त हूँ।

कुल्ली सबसे पहले मनुष्य थे, ऐसे मनुष्य, जिनका मनुष्य की दृष्टि में बराबर आदर रहेगा। सरस्वती-संपादक पं० देवीदत्तजी शुक्ल ने, पूछने पर, कहा, कुल्ली मेरे बड़े भाई के मित्र थे। अस्तु, जहाँ शुक्लजी की मित्रता का उल्लेख है, वहाँ पाठक समझने की कृपा करें कि कुल्ली शुक्लजी के मित्र नहीं, बड़े भाई-जैसे थे।

पुस्तिका में हास्य-रस की प्रधानता है, इसलिये कोई नाराज होकर अपनी कमजोरी न साबित करें, उनसे प्रार्थना है।

लखनऊ
१०।५।३९

'निराला'

(१)

बहुत दिनों की इच्छा—एक जीवन-चरित लिखूँ, अभी तक पूरी नहीं हुई ; चरितनायक नहीं मिल रहा था, ठीक जिसके चरित में नायकत्व प्रधान हो। बहुत आगे-पीछे दाएँ-बाएँ देखा। कितने जीवन-चरित पढ़े, सबमें जीवन से चरित ज्यादा; भारत के कई महापुरुषों के पढ़े—स्वहस्त-लिखित; भारत पराधीन है, चरित बोलते हैं। बहुत दिनों की समझ—सत्य कमजोरी है, शहजोरी उसकी प्रतिक्रिया ; अगर चरित में अँधेरा छिपा, प्रकाश आँखों में चकाचौंध पैदा करता है, जो किसी तरह भी देखना नहीं—जड़ पकड़ गई। याद आया, कहीं पढ़ा था—बंबई

के सिनेमा-स्टारों की सर्र से दीवार चढ़ने की करामात देखकर—रँगे कृत्य में आए—सत्य से अज्ञ—बाहर के किसी प्रेमी कार्यकर्ता ने कमर तोड़ ली है। बड़ी ख़ुशी हुई। साफ़ देखा—क़लम हाथ लेते ही कितने कवियों की आँख की परी विश्व-साहित्य के सातवें आसमान पर पर मारती है, कितने कर्मवीर दलिया खाते हुए कमर कमान किए जान पर खेल रहे हैं, कितने आधुनिक बेधड़क समाजवाद के नाम से पूरे उत्तानपाद। इसी समय तुलसीदास की याद आई, जिन्होंने लिखा है—"जो अपने अवगुन सब कहऊँ, बाढ़ै कथा पार ना लहऊँ; ताते मैं अति अलप बखाने, थोरे महँ जानिहैं सयाने।" सोचा, तुलसीदास ने सिर्फ़ सयानों की आँख फैलाई है, यानी महापुरुषों की नहीं। वह स्वयं भी महापुरुष नहीं थे, आधुनिक विद्वानों का मत है। कहते हैं, जवानी के श्रीगणेश से, यानी अच्छी तरह होश आने से, उम्र के सौ साल बाद—अच्छी तरह होश जाने तक उनमें पुरुषत्व ही प्रधान रहा। मुझसे कवि भगवतीचरण कहते थे—कविवर रामनरेश त्रिपाठी जानते हैं, बहुत आधुनिक रिसर्च है—तुलसीदासजी गर्मी से मरे थे; यह पता नहीं चला—गर्मी रत्नावली से मिली—कहाँ से; बाहुक की रचना के वक़्त बाँह का दर्द गर्मी के कारण हुआ। कुछ हो, मैं ऐतिहासिक नहीं, समझा कि तुलसीदासजी पुरुष थे, महापुरुष नहीं; महापुरुष अकबर था—दीन इलाही चलाया—हर क़ौम की बेटी ब्याही—चेले बनाए। अपने राम

के लकड़दादा के लकड़दादा के लकड़दादा राजा बीरबल त्रिपाठी अकबर के चेले थे ; अपनी बेटी खाले के बाजपेयियों के घर ब्याही ; तब से बाजपेयी-वंश में भी महापुरुषत्व का असर है, यों ट्रिपल लकड़दादा का प्रभाव कुल कनवजिया कुलीनों पर पड़ा—खैर ; 'महापुरुष' 'पुरुष' का बढ़ा हुआ रंगा हिस्सा लेकर है, उसी तरह उसके 'चरित' में एक 'सत्' और जुड़ गया है। साहित्यिक की निगाह में यह साबुन का उपयोगितावाद है, अर्थात् सिर्फ साफ़ होता है, वह भी कपड़ा, रास्ता, घर या दिमाग़ नहीं। अगर वाद लें, जैसे समाजवाद पैर बढ़ाए है, तो वह भी अकेला साहित्य नहीं ठहरता—साहित्य पुरुष का एक रोयाँ सिद्ध होता है। मैं तलाश में था कि ऐसा जीवन मिले, जिससे पाठक चरितार्थ हों, इसी समय कुल्ली भाट मरे।

जीवन-चरित जैसे अदमियों के बने और बिगड़े, कुली भाट ऐसे आदमी न थे। उनके जीवन का महत्त्व समझे, ऐसा अब तक एक ही पुरुष संसार में आया है, पर दुर्भाग्य से अब वह संसार में रहा नहीं—गोर्की। पर गोर्की में भी एक कमजोरी थी ; वह जीवन की मुद्रा को जितना देखता था, खास जीवन को नहीं। वादी-विवादी था। हिंदी में कोई है, हिंदी-भाषी किसी महापुरुष की जुबान से कहा जा सकता है —'नहीं'। मैं हिंदी के पाठकों को भरसक चरितार्थ करूंगा, पर मुझे कामयाबी न होगी, यह मैं बीस साल से जानता हूँ।

कुल्ली भाट के भूगोल में केवल जिला रायबरेली था स्थल, बाक़ी जल। एक बार लाचारी अब अयोध्या तक गए, जैसे किसी टापू में, यान रेल। यों, ज़िंदगी-भर अपने वतन डलमऊ में रहे। लेकिन, ज़िंदगी के बाद—जितने जानता हूँ, नाम-मात्र से लेकर पूरे परिचय तक—उनसे नहीं छूटे। गड़ही के किनारे कबीर को महासागर कैसे दिखा, मैं समझा।

बड़ा आदमी कुल्ली को कोई नहीं मिला, जिसे मित्र समझ-कर गर्दन उठाते, एक 'सरस्वती'-संपादक पं० देवीदत्त शुक्ल को छोड़कर ; लेकिन शुक्लजी का बड़प्पन जब उन्हें मालूम हुआ, तब मरने के छ महीने रह गए थे, मुझी से सुना था। सुनकर गर्दन उठाई थी, साँस भरी थी, और कहा था।—"वह मेरे लँगोटिया यार हैं। हम मदरसे में साथ पढ़े हैं।" मुझे हँसता देख फिर छोटे पड़े,पूछा—"देवीदत्त बड़े आदमी हैं ? मैंने कहा—"आपको मदरसे की याद आ रही है। जिस पत्रिका के आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी संपादक थे, उसके अब शुक्लजी हैं।" न-जाने क्यों, कुल्ली को फिर भी विश्वास न हुआ मैं सोच रहा था, या तो कुल्ली मदरसे में शुक्लजी से तगड़े पड़ते थे; या—याद आया, शुक्लजी को बैसवाड़े के कवि कंठाग्र हैं कुल्ली की दोस्ती के कारण। कुल्ली गुरु-स्थान पर हैं। मुझे भी उन्होंने कुश्ती (एक दाँव) पर चढ़ाया था, नरहरि, हरिनाथ, ठाकुर, भवन आदि—मालूम नहीं—कितने कवि गिनाए थे, अपने वंश के। मुमकिन इसलिये भी कि धाक जमाने

के अलावा मेरी दृष्टि का अप्रतिष्ठा-दोष दूर कर दें। पर कुल्ली को मालूम न था कि मैं कविता तो लिखता हूँ, पर कवि दूसरे को मानता हूँ। कुल्ली की शुक्लजी के प्रति हुई मनोदशा देखकर मैंने कहा—"जब आप मुझे इतना......., तब शुक्लजी तो......., मैं तो उनके चरणों तक ही पहुँचता हूँ।" सुनकर कुल्ली बहुत खुश हुए, जैसे स्वयं शुक्लजी हों, बड़प्पन आ गया, स्नेह की दृष्टि से देखते हुए बोले—"हाँ, करते की विद्या है, जब आप गौने के साल आए थे, क्या थे?" कहकर कुछ झेंपे। झेंपने के साथ उनके मनोभाव कुल हाल बेतार के तार से मुझे समझा गए। पचीस साल पहले की घटना, जो उस समय समझ में न आई थी पल-मात्र में आ गई, सारे चित्र घूम गए, और उनका रहस्य समझा। वहीं कुल्ली से पहली मुलाक़ात है, वहीं से श्रीगणेश करता हूँ।

(२)

मैंने सोलहवाँ साल पार किया, पूरा जवान जी० पी० श्रीवास्तव के कथनानुसार। जी० पी० श्रीवास्तव ही नहीं, जितने गाँव-घर-टोला-पड़ौस के थे, यही कहते थे। याद है, एक दिन पं० रामगुलाम ने पिताजी से कहा था—"लड़के का कंठ फूट आया, बगलें निकल आईं, मसें भीगने लगीं, अब बबुआ नहीं है, गौना कर दो; हो भी तो हाथी गया है, लड़ता है, सुनते हैं।" "हाँ।" कहकर पिताजी चिंता-मग्न हो गए थे। इसी तरह, जब गौना लेने गए, श्रीमतीजी तेहरवाँ पार कर चुकी थीं—कुछ दिन हुए

थे, उनकी किसी नानी ने कहा था उनकी अम्मा से—मैं वहीं था—हम दोनो की गाँठ जोड़कर कौन एक पूजा की जा रही थी—मदनदेव की अवश्य नहीं थी। उन्होंने कहा था—"दामाद जवान, बिटिया जवान; परदेश ले जाते हैं, तो लेजाने दो।"

गौना हुआ। बड़ी बिपत। गाँव में प्लेग। लोग बाग़ों में पड़े। हमारा एक बाग़ गाँव के क़रीब है। प्लेग का अड्डा होता है—लोग वहाँ झोंपड़े डालते हैं। हम लोग बंगाल से आए, उसी दिन लोग निकलने लगे। आखिर एक महुए के नीचे दो झोंपड़े डलवाकर पिताजी मुझे और कुछ भैयाचार-नातेदारों को लेकर गौना लेने चले। जेठ के दिन। इससे पहले यू० पी० की लू नहीं खाई थी। ख़ैर, गौना हुआ, और एक झोंपड़े में एक रात हम लोग क़ैद किए गए। जो बातें नहीं सोची थीं, श्रीमतीजी के स्पर्श-मात्र से वे मस्तिष्क में आने लगीं, प्रौढ़ता के अंत तक उनसे अधिक प्रौढ़ बातें नहीं आतीं, मैं नवयुवकों को विश्वास दिलाता हूँ। ख़ैर, हम पूरे जवान हैं, हम दोनो समझे। पाँचवें दिन ससुरजी बिदा कराने आए। ससुरजी इसलिये भी आए कि गाँव का पानी नहीं पिएँगे, शाम तक बिदा करा ले जायँगे। पिताजी को बहुत बुरा लगा। वह बंगाल से उतना रुपया ख़र्च करके आए थे। पाँच दिन के लिये नहीं। ससुरजी सुबह की गाड़ी से आए थे। मैं रात का जगा, सो रहा था। बातचीत नहीं सुनी; बाद को गाँव के एक भैया से सुनी। मेरी जब आँख खुली,

तब ससुरजी अपनी लड़की को विदा कराके ले गए थे। सुना, प्लेग के भय से वह लड़की को विदा कराने आए थे। पिताजी ने इस पर बहुत फटकारा, कहा, यह भय हमारे लड़के के लिये आपको नहीं हुआ—अगर ऐसे आपके मनोभाव हैं, तो हम दूसरा विवाह कर लेंगे। पिताजी के तर्क-पूर्ण कथन का, मुमकिन, ससुरजी पर प्रभाव पड़ता, लेकिन ससुरजी थे बहरे। वह अपनी कहते थे, और देख रहे थे कि बिदाई की तैयारी हो रही है या नहीं। उधर ससुरजी की पुत्री अपने पिता और ससुर के कथोपकथन को एकनिष्ठ होकर सुन रही थीं। पिताजी पुत्र की दूसरी शादी कर लेंगे' प्रभाव अनुमेय है। झल्लाहट में पिताजी ने बिदा कर दिया, और स्टेशन पहुँचा देने को बहल बुला दी।

दूसरे दिन नाई आया सासुजी की लंबी चिट्ठी लेकर। 'क्षमा'-शब्द का अतिशय प्रयोग। ससुरजी कम सुनते हैं, आज्ञा-पालन में त्रुटि हुई। बुलावा। 'गवहीं' पहले नहीं ली, अब ले लें। बड़ी दीनता। यह भी लिखा था—"मेरी दो दाँत की लड़की, उसके सामने दूसरे विवाह की बात!" पिताजी पिघले, मुझसे बोले—"ससुरार जाव। लेकिन वहाँ से तिगुना खाना।" मैंने कहा—"घी और बादाम तिगुने करा लूँगा। बेदाना तो वहाँ मिलते नहीं, नहीं तो शरबत में तीन रुपए लग जाते रोज।" पिताजी ने कहा—"रुह, रुह की मालिश करना रोज, होश दुरुस्त हो जायगे।"

शाम चार बजेवाली गाड़ी से चलने की तैयारी हो गई। दुपहर ढलते नौकर बिस्तर-बॉक्स लेकर भेज दिया गया। मैं पिताजी के उपदेश धारण कर ढाई बजे के क़रीब रवाना हुआ। ठाट बंगाली; धोती, शर्ट, जूता, छाता। आँख में भी बंगाल का पानी, बाक़ी देश जंगल या रेगिस्तान दिखते थे। बंगालियों की तरह मैं भी मानता था, आर्य बंगाल पहुँचकर सही मानी में सभ्य हुए, विशेषतः अंगरेजों के आने के बाद से। महुए की छाँह और तर किए झोंपड़े के अंदर यू० पी० की गर्मी का हिसाब न लगता था। बाहर खाई पार करते ही लू का ऐसा झोंका आया कि एक साथ कुंडलिनी जैसे जग गई, जैसे वर पुत्र पर पड़ी सरस्वती की कृपा-दृष्टि की तारीफ़ में रवि बाबू ने लिखा है—"एके बारे सकल पर्दे घुचिए दाओ तारे" (एक साथ ही उसके कुल पर्दे हटा देती हो।) वह प्रकाश दिखा कि मोह दूर हो गया। लेकिन व्यक्ति-भेद है; रवि बाबू को आराम-कुर्सी पर दिखा, हज़रत मूसा को पहाड़ पर, मुझे गलियारे में, लू विरोध करती हुई कह रही थी—"अब ज्ञान हो गया है, घर लौट जाओ;" फिर भी पैर पीछे नहीं पड़े; बंगाल की वीरता और प्रेमा-शक्ति बैक कर रही थी। पैर उठाकर सामने रखते ही, लीक के खड्ड में डेढ़ हाथ खाले गया, और मैं 'गुड़ीगुड़ंता' के डंडे की तरह गुड़ा; लेकिन स्पोर्टसमैन था झड़बेर की झाड़ी तक पहुँचते-पहुँचते अड़ गया। देह गर्दबर्द हो गई। मुँह

में क्रीम लगाया था, घाव पर जैसे आयडोफ़ार्म पड़ा। लेकिन धन्यवाद है सूरदास को, मुझे लज्जित होने से बचा लिया; कलकत्ते से 'बिल्वमँगल'-नाटक देखकर आया था—दूसरी जीवनियाँ भी पढ़ी थीं, लाश पकड़कर नदी पार करने और साँप की पूँछ पकड़कर मंजिल चढ़ने के मुक़ाबले यह अति तुच्छ था, फिर वहाँ वेश्या, यहाँ धर्मपत्नी। आगे बढ़ा। एक झोंका और आया, मालूम हुआ, इस देश में धूप से हवा में गर्मी ज्यादा है। फिर भी हवा के प्रतिकूल चलना ही होगा। कालिदास को पढ़ रहा था, याद आया—"अजयदेकरथेन स मेदिनीम्;" कड़ाई से पैर आगे बढ़ाया, ठफाका जूते ने काँकर के धाके से ठोकर ली और मुँह फैला दिया। सोचा, बॉक्स में एक जोड़ा और है, नया। तसल्ली हुई। फिर आगे बढ़ा। एक झोंका और आया। अब के छाता उलट कर दूसरी तरफ़ तना। हवा के रुख़ पर करके, सुधारकर तोड़ लिया। आगे लोन-नदी आई, जो आठ महीने सूखी रहती है, और जिसके किनारे संसार के आधे बेर-बबूल हैं; शायद इसी कारण इस प्रांत का नाम कभी बनौधा था—"बारह कुँवर बनौधे केर।" स्वतंत्रता प्रेम भी अधिक था; क्योंकि छोटी-सी जगह में बारह कुँवर थे। धोती कोंछेदार बंगाली पहनी थी। एक जगह उड़ी, और, बेर की बाँहों से आलिंगन किया, न अब छोड़े, न तब;—"गुलों से ख़ार बेहतर हैं, जो दामन थाम लेते हैं;" याद तो आया, पर बड़ा ग़ुस्सा लगा। सैकड़ों काँटे चुभे हुए। धोती छप्पनछुरी हो रही थी। छुड़ाते नहीं बनता था। देर हो रही थी।

आख़िर मुट्ठी से कोंछे को पकड़कर खींचा। धोती में सहस्रधार गंगा बन गईं, उधर बेर सहस्र विजय-ध्वज। धोती क़ीमती थी;—शांतिपुरी, ख़ास ससुराल के लिये ली गई थी, जैसे प्रसिद्ध लेखक ख़ास पत्र के लिये लेख लिखते हैं। सांत्वना हुई कि कई और हैं। नदी-गर्भ से ऊपर आया। कुछ दूर पर बेहटा-श्मशान मिला। दो ही मील पर देखा, दुर्दशा हो गई है, जैसे धूल का समंदर नहाकर निकला हूँ। स्टेशन मील-भर रह गया था, गाड़ी का अर्राटा सुन पड़ा। अपने आप पैर दौड़ने लगे। मन ने बहुत कहा, बड़ी अभद्रता है। लेकिन जैसे पैरों के भी ज़बान लग गई हो, बोले—अभी भद्रता कुछ बाक़ी भी रह गई है? घर लौटकर जाओगे, ज़िंदगी-भर गाँववाले हँसेंगे—बाबू बनकर ससुराल चले थे। हज़ार-हज़ार सपाटे का उठान तो देखो।" कहते पैर बेतहाशा उठ रहे थे छाता बग़ल में। हाथ में जूते। सामने मील-भर का ऊसर। चार बजे की चटकती धूप। स्टेशन देख पड़ने लगा। गाड़ी प्लेटफ़ार्म पर आ गई। दौड़ तेज़ हुई। लंबा मैदान। गाड़ी पानी ले रही है। अभी छ फ़र्लांग और है। भूभुल में पैर जले जा रहे हैं, लेकिन रफ़्तार धीमी नहीं, बढ़ाई भी नहीं जा सकती, कलेजा मुँह को आता हुआ। एंजिन पानी ले चुका, लौट रहा है, अभी चार फ़र्लांग है और तेज़ हों—नहीं हो सकते। बदन लस्त। जान पड़ता है, गिर जाऊँगा। इसी समय नौकर चंद्रिकाप्रसाद ठोढ़ी उठाकर रास्ते की तरफ़ देखता हुआ देख पड़ा। चंद्रिका के दूध के दाँत उखड़ने के बाद सामने के

अन्नवाले नहीं जगे, इसलिये लोग 'सिपुला' कहते हैं। हैरान होकर असंबद्ध होठों से, —ठोढ़ी उठाए—एक दृष्टि —प्रतीक्षा करते देखकर मुझे नई जान मिली, देखकर चंद्रिका भी सजीव हुआ। टिकट कटा लिए थे, ग़नीमत हुई। मैं पहुँचा। चंद्रिका हँसा, फिर सामान चढ़ाने लगा। स्टेशन में एक प्लेटफ़ार्म है, उस तरफ़ उससे गाड़ी लगी हुई; मुझे न आता देख चंद्रिका उतर-कर इधर चला आया था। इधर से ही चढ़े। भीतर जाने के साथ इतनी गर्मी मालूम दी कि जान पर आ बनी। चंद्रिका न होता, तो न-जाने क्या होता। वह अँगौछे से हवा करने लगा। कुछ देर में होश दुरुस्त हुए। गाड़ी चली। ठंडे होकर कपड़े बदले।

पाँचवाँ स्टेशन लखनऊ है। उतरा, तब सूरज छिप चुका था। लेकिन इतना उजाला कि अच्छी तरह मुहँ दिखे। चंद्रिका ने सामान उठाया। चले। गेट पर टिकट-कलेक्टर के पास एक आदमी खड़ा था बना-चुना, बिलकुल लखनऊ-ठाट, जिसे बंगाली देखते ही गुंडा कहेगा। तेल से ज़ुल्फ़ें तर, जैसे अमीनाबाद से सिर पर मालिश कराकर गया है। लखनऊ की दुपलिया टोपी, गोट तेल से गीली, सिर के दाहने किनारे रक्खी। ऐंठी मूँछें। दाढ़ी बनाई। चिकन का कुर्ता। ऊपर वास्कट। हाथ में बेंत। काली मख़मली किनारी की कलकतिया धोती, देहाती पहलवानी फ़ैशन से पहनी हुई। पैरों में मेरठी जूते। उम्र पच्चीस के साल-दो साल इधर-उधर। देखने पर

अंदाज़ा लगाना मुश्किल है—हिंदू है या मुसलमान। साँवला रंग। मझोले का डीलडौल। साधारण निगाह में तगड़ा और लंबा भी। टिकट देकर निकलते ही मुझसे पूछा—"कहाँ जाइएगा?" मैंने कहा—शेरअंदाज़पूर।" "आइए, हमारा एक्का है," कहकर उसने एक्केवान को पुकारा, और गौर से घूरते हुए पूछा—"किनके यहाँ?" मैंने अपने ससुरजी का नाम लिया। उसे एक बार देखकर दोबारा नहीं देखा, कारण, वह मेरा आदर्श नहीं था, मुझसे दो इंच छोटा था और बदन में भी हल्का। मैं एक्केवाले के साथ एक्के पर बैठा। चंद्रिका भी था। वह जवान कुछ देर तक पैसेंजर देखता रहा, फिर उसी एक्के पर आकर बैठा। चुपचाप बैठा देखता रहा। तब मैं नहीं समझ सका, अब जानता हूँ—वैसी शुभ दृष्टि सुंदरी-से-सुंदरी पर पड़ती है, जिसकी बाढ़ का पानी रत्ती-भर नहीं घटा। चंद्रिका बेवक़ूफ़ की तरह उसे, विश्वास की दृष्टि से मुझे रह-रहकर देख लेता था। उस मनुष्य ने मुझसे कोई प्रश्न नहीं किया, केवल अपने भाव में था। मुझे बोलने की कोई आवश्यकता न थी। एक्का चला, क़स्बे में आकर मेरे ससुरजी के दरवाज़े खड़ा हुआ। वह आदमी चौराहे पर उतर गया था। उतरते एक्केवाले से कुछ कहा था, मैंने सुना नहीं। जब मैं किराया देने लगा, एक्केवाले ने कहा, "नंबरदार ने मना किया है।" "हम किसी नंबरदार को नहीं जानते, किराया लेना होगा, पहले कह दिया होता"—एक्केवाले ने हाथ तो बढ़ाया, लेकिन कहा—"भैया, उन्हें मालूम होगा, तो मेरी नौकरी न रहेगी।" मैं समझ गया, पैसे जेब में रक्खेगा। अब ससुराल के लोग आ गए। मैं प्रणाम-नमस्कारादि के लिये तैयार हुआ।

पैर छूकर मैं एक ग़लीचा-बिछे पलँग पर बैठा, देखा, सासुजी की पलकों पर चिंता की छाया है। मन-ही-मन कारण की तलाश करने लगा। इसी समय हृदय के भाव को शब्दों में प्रकटकर उन्होंने पूछा—"क्यों भैया, तुम कुल्ली के एक्के पर आए हो ?"

मैंने सोचा—कुल्ली अछूत है। कहा—"आजकल यह सब चला गया है।"

मैंने अपनी समझ से पूरी तरह उनकी शंका मिटा दी, पर सासुजी की निगाह में त्रिशंकु स्वर्ग से गिरे; मेरे लहराते हुए बंगाली बालों को बड़े संशय से देखने लगीं—लहरियों से पुल-

कित होने की जगह सिहर-सिहर उठने लगीं,—जैसे उनकी कन्या के भाग्य और सुहाग के लिये धोखे की टट्टी हो । एकाएक मेरी कोंछीदार धोती पर उनकी निगाह गई, तो जैसे शंका को सुगठित प्रमाण मिला । एक ही भाव में कुछ देर स्थिर रहकर उन्होंने लंबी साँस छोड़ी, निष्कर्ष तक पहुँचने की सूचना, फिर धीरे-धीरे भीतर गईं ।

मैं बैठा हुआ, फाटक के भीतर, घर के बाहरवाले आँगन में लगा चिलबल का पेड़ देखता रहा । एकाएक ख़याल गया, इसकी डाल तर सावन में झूला पड़ता होगा, उस पर बैठी हुई भरे आकाश के सजल बादलों को देख-देखकर जो सावन, मल्लार, कजली और बारहमासियाँ गाती हुई पैंगों में झूलती है, उसे मैं पहचानता हूँ, उसके कुल गीतों का इधर मैं ही लक्ष्य रहा हूँगा । इसी समय भीतर से एक नवीना कंठ की खिलखिलाहट सुन पड़ी; यद्यपि मैंने यह पहले-ही-पहल सुनी थी, फिर भी पहचानते देर नहीं हुई —यह किसकी है । उसकी ध्वनि में बड़े गहरे-गहरे अर्थ थे—"तुम मेरे हो, तुम पर मेरा पूरा विश्वास है, तुम्हें पाकर मैं और कुछ भी नहीं चाहती, दूसरे तुम्हें नहीं समझते, तो न समझें, मैं किसी को समझाना नहीं चाहती ।"

चंद्रिका खुले में टाट पर बैठा आकाश की शोभा देख रहा था । तारे निकल आए थे । भावावेश में उसने मुझसे पूछा—"अच्छा, बाबा, आसमान में तारे ज्यादा हैं या दुनिया में आदमी ?" मैंने कहा—"तुझे क्या जान पड़ता है ?" चंद्रिका

बहुत सोच-विचारकर हँसा, कहा—"दुनिया आसमान से छोटी थोड़े ही है ?— कहाँ से कहाँ तक है ! आदमी ज्यादा होंगे।"

इसी समय सासुजी शरबत लेकर आईं। उनका नौकर बाहर गया था। आया। सासुजी ने उससे पानी ले आने के लिये कहा। मैंने देखा, सासुजी का चेहरा प्रकाश को भी प्रसन्न कर रहा है। उनकी आत्मजा जैसे उनकी आत्मा में प्रविष्ट हो क्षण-मात्र में उनकी शंका निवृत्त कर चुकी है, परिष्कृत स्नेह के स्वर से कहा—"बच्चा, शरबत पी लो।" मैंने शरबत पिया। सासुजी ने इस बार भी एक साँस छोड़ी, जो मुझे स्निग्ध करनेवाली थी। चंद्रिका ने भी शरबत पिया।

सासुजी प्रसन्न चित्त से पलँग के नीचे एक कंबल बिछवा कर बैठीं, और मेरे पिताजी की बर्बरता की खुली भाषा में आलोचना करने लगीं। मेरी कई बार इच्छा हुई कि उत्तर में ससुरजी को बर्बर कहूँ, लेकिन शृंगार की जगह, ससुराल में वीर-रस की अवतारणा अच्छी न होगी, सोचकर रह गया। सासुजी अंत तक यह कहती बाज न आईं कि उनकी पुत्री की तरह सुंदरी, पढ़ी-लिखी, सुशील और बुद्धिमती लड़की संसार में दुर्लभ है; अगर पिताजी ने मेरा विवाह कर दिया, तो दैव-दुर्योग के अवश्यंभावी थपेड़े खाते-खाते मेरे पाँचों भूत संसार के इसी पार रह जायँगे। मैंने इसका भी जवाब नहीं दिया। फलतः सासुजी मुझे अत्यंत समझदार समझीं; कहा।

"मैंने तुम्हारा ही मुँह देखकर विवाह किया है, तुम्हारे पिता की तोंद देखकर नहीं।" मुझे इसका मतलब लगाते देर नहीं लगी कि पिताजी अगर मेरा दूसरा विवाह करने लगें, तो मैं दूसरी ससुराल में अपना मुँह न दिखाऊँ। मेरे ऐसे ही स्वभाव से शायद प्रसन्न होकर सासुजी ने पूछा—"अच्छा, भैया, मेरी लड़की तुम्हें कैसी सुंदरी लगती है?" मौखिक इम्तहान में मैं बराबर पहला स्थान पाता रहा हूँ। कहा—"मैंने आपकी लड़की को छुआ तो है, बातचीत भी की है, लेकिन अभी तक अच्छी तरह देखा नहीं; क्योंकि जब मेरे देखने का समय होता था, तब दिया गुल कर दिया जाता था। दूसरे दिन दियासलाई ले तो गया, जलाकर देखा भी, लेकिन सलाई के जलते ही आपकी लड़की ने मुँह फेर लिया, और झोंपड़े के अगल-बगलवाले लोग खाँसने लगे। फिर जलाकर देखने की हिम्मत न हुई।" सासुजी मुस्किराईं, और उठकर भीतर चली गईं।

भोजन के पश्चात् मैंने देखा, कवि श्रीसुमित्रानंदनजी पंत को राय बहादुर पं० शुकदेव बिहारीजी मिश्र ने जैसे, मेरी सासु-जी ने मुझे भी सौ में एक सौ एक नंबर दिए हैं, यानी मेरे शयन-कक्ष में बड़ी मोटी बत्ती लगाकर दिया रख दिया है, ताकि उनकी पुत्री के अनन्य लावण्य को मैं पूरी सार्थकता के साथ देख सकूँ। मैं हर्षित हो आँखें बंद किए आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। सबका भोजन-पान समाप्त हो जाने पर मंद गति से संसार के समस्त छंदों को पस्त करती हुई उनकी पुत्री

भीतर आईं, और मुझे पान देती हुई बोलीं--"तुम कुल्ली के मक्के पर आए हो ?"

यह 'कुल्ली का मक्का' कौन-सी बला है, मैं हैरान होकर सोचने लगा; श्रीमतीजी आनतवदना खड़ी मुस्किराती रहीं।

(५)

प्रातःकाल जब आँख खुली, तब काफ़ी देर हो गई थी। सासुजी प्रातःकृत्य के लिये पूछने आईं। मैं निवृत्त होकर जल-पान कर एक किताब लेकर बैठा कि सासुजी ने कहा—"सुबह सूरज की किरन फूटने के साथ कुल्ली आए थे। हमने कहा, अभी सो रहे हैं। उन्होंने फिर आने के लिये कहा है। लेकिन, भैया, कुल्ली से मिलना-जुलना अच्छा नहीं।"

मैंने कहा—"जब वह खुद मिलने के लिये आवेंगे, तब मिलना ही होगा।"

"लेकिन वह आदमी अच्छे नहीं।" सासुजी ने गंभीर भाव से कहा।

"तो भी आदमी हैं, इसलिये—"

"हमारा यह मतलब नहीं कि वह सींगवाले हैं। आदमियों में ही आदमी की पहचान होती है।"

"जब आपको यह पहचान थी, तब आपने उनसे कह दिया होता कि मुलाक़ात न हो सकेगी।"

"पर, गाँव के आदमी से एकाएक ऐसा नहीं कहा जाता, फिर तुम नातेदार हो, तुमसे गाँव-भर के आदमी मिल सकते हैं, स्नेह-व्यवहार मानकर, हमारा रोकना अच्छा नहीं।"

"तो क्या आपका कहना है, जब कोई स्नेह-व्यवहार मान कर आवे, तब मैं ही उसे रोक दिया करूँ ?"

सासुजी अप्रतिभ होकर बोलीं—"नहीं, हमारा यह मतलब नहीं; उसके साथ रहने पर तुम्हारी बदनामी हो सकती है।"

"पर," मैंने कहा—"मेरे साथ रहने पर उसकी नेकनामी भी हो सकती है।"

सासुजी मुझे देखती हुई शायद मुझमें स्पष्ट नेकनामी के चिह्न देखने लगीं। इसी समय कुल्ली आए, और अविकृत कंठ से आवाज़ दी—"जगे ?" सासुजी की त्योरियों में बल पड़ गए। श्रीमतीजी एक दफ़ा इस तरफ़ से उस तरफ़ निकल गईं। मैं शुरू से विरोध के सीधे रस्ते चलता रहा हूँ। कुल्ली इतना ख़तरनाक आदमी क्यों है, जानने की उत्सुकता लिए हुए बाहर

निकला। मधुर मुस्किराहट से आत्मीयता जतलाते हुए कुल्ली ने सिर झुकाकर नमस्कार किया। उन्हें अत्यंत सभ्य मनुष्य के रूप में देखकर मैंने भी प्रतिनमस्कार किया।

दिन के समय बाहर की बैठक में मेरे रहने का प्रबंध था। पलंग बिछाया जा चुका था। मैं बैठक की तरफ़ चला। पलंग के पास एक खाली चारपाई पड़ी थी। कुल्ली अपनी तरफ़ से उस पर बैठ गए। बराबरी की होड़ नहीं की, यह मुझे बहुत अच्छा लगा। पलंग पर बैठकर मैंने अपनी सासूजी को उनके घनिष्ठ संबंध से याद कर लिया।

इसी समय पान आए। कुल्ली ने तश्तरी लेकर आदर की दृष्टि से देखते हुए मेरी तरफ़ बढ़ाई। मैंने गौरव-पूर्ण गंभीरता से दो बीड़े लिए। आशीर्वाद के स्वर से कुल्ली को भी खाने के लिये कहा। मुस्किराते हुए कुल्ली ने दो बीड़े ले लिए, और तश्तरी चारपाई पर रख दी।

फिर बड़ी सभ्य भाषा में बातचीत छिड़ी। बात उसी शहर के इतिहास पर थी। मैं देखता था, कुल्ली मुझे, खास तौर से मेरी आँखों को इस तरह देखते हैं, जैसे उनके बहुत बड़े कोई प्रियजन हैं। यह दृष्टि इससे पहले मैंने नहीं देखी थी। मुझे कौतूहल तो था, पर भीतर से अच्छा लगता था। कुल्ली ने कहा—"यह दलमऊ दल बाबा का था। उनका क़िला अब भी है।"

मुझे उत्सुकता हुई। मैंने पूछा—"क्या क़िला अब भी है?"

"हाँ," गंभीर स्वर से कुल्ली ने उत्तर दिया—"लेकिन अब

टूटकर ढह गया है। यहाँ के पुराने अपढ़ लोग तो कहते हैं, क़िला दल बाबा के शाप से उलट गया है। जौनपुर के शाह से लड़ाई हुई थी। बरेली के बल और डलमऊ के दल मिलकर शाह से लड़े थे। यहाँ से कुछ दूर पर वह जगह है, जहाँ अब भी मेला लगता है। यहाँ की जगह और क़िले पर फिर मुसलमानों का अधिकार हुआ। शाह की क़ब्र यहाँ है, एक बारहदरी भी है, मक़नपुर में। बहुत पहले यह जगह क़न्नौज के अधीन थी। जयचंद का झोपड़ा यहाँ है, कौशाम्बी के उस तरफ़।"

यह इतनी ऐतिहासिक जगह है, सुनकर मैं पुलकित हो गया। ऐसी जगह ससुराल देने के कारण परम पिता को धन्यवाद दिया। मन में इतनी महत्ता आ गई, जैसे मेरी श्रीमतीजी दल की ही दुहिता रही हों। मैं विस्फुरित आनंद की दृष्टि से कुल्ली को देखने लगा। कुल्ली ने कहा—"यहाँ घाट भी कई देखने लायक़ हैं। राजा टिकैतराय का घाट तो बड़ा ही सुंदर है।"

मेरी ससुराल के संबंध में एक साथ इतने नाम आएँगे, मेरा स्वप्न में भी ज्ञात न था। मैं एक विशिष्ट व्यक्ति की तरह गंभीर होकर बैठा। मुस्किराकर कुल्ली ने कहा—"यहाँ और भी घाट हैं, मठ और मंदिर। बहुत पुरानी जगह है। उजड़ी बस्ती। देखने लायक़ है।"

"मैं जाऊँगा।" मन-ही-मन ससुरालवालों को इतर विशेष कहते हुए मैंने कहा।

कुल्ली ने कहा—"जब से चाहिए, आपको ले चलूँ। इस वक़्त

तो धूप हो गई है। शाम को चलें, तो चलकर क़िला देख आइए।"

मैंने सम्मति दी। कुल्ली ने कहा—"मैं चार बजे आऊँगा। यहाँ आदमी भी बहुत बड़े बड़े हो, गए हैं. जैसे मेरे वंश के..................."

कुल्ली ने कुछ कवियों के नाम गिनाए। मैंने उन्हें भी बड़ी इज्ज़त से मन में जगह दी। कुछ देर बाद कुल्ली उसी तरह आँखें देखते हुए नम्रता-पूर्वक नमस्कार कर बिदा हुए।

मैं बैठा सोचता रहा—दुनिया कैसी दुरंगी है। इस आदमी के लिये उसकी कितनी मंद धारणा है!

बैठका निराला देखकर सासुजी भीतर आईं। पहले कई बार शंकित दृष्टि से झाँक-झाँककर चली गई थीं। आते ही हृष्ट चित्त से पूछा—"कुल्ली चले गए?"

गंभीर होकर मैंने कहा—"हाँ, आज की बातचीत से मुझे तो वह बड़े अच्छे आदमी मालूम दिए।"

एक क्षण के लिये सासुजी फिर शंकित हो गईं। फिर मुझसे कहा—"तुमने रामायण तो पढ़ी होगी?"

"यद्यपि मैं लड़की नहीं कि पतिदेव की आँखों में पढ़ी-लिखी उतर जाने की ग़रज़ से रामायण-भर पढ़ी है, फिर भी रामायण की बातें मुझे मालूम हैं, और आपके सामने परीक्षा ही देनी है, तो कहता हूँ, कुल्ली रावण या कुंभकर्ण नहीं है, यह मैं समझ गया हूँ।"

सासुजी मुस्किराईं, बोलीं—"परीक्षा में पास होने की शेख़ी

लिए हुए भी तुम मेरी राय में रामायण में फेल हुए। मैंने रामायण का जिक्र इसलिये नहीं किया था कि तुम कुल्ली को रावण या कुंभकर्ण बनाओ, मेरी बात के सिलसिले में कुंभकर्ण तो बिलकुल ही नहीं आता, रावण के योगी बनकर भीख माँगने के प्रसंग पर कुछ आता है, पर दर अस्ल ये दोनो मिसालें गलत आईं, मतलब कालनेमि से था।"

मैंने उसी वक्त कहा—"हाँ, 'कालनेमि जिमि रावण-राहू,' लिखा है?"

सासुजी मधुर मुस्कराईं। कहा—"तुमने रामायण पढ़ी है, यह सही है। लेकिन यहाँ—"

"हनुमानवाला प्रसंग है कि मैं पकड़कर पैर पटक देता?" मैंने बात छीन ली जैसे, गर्व से सासुजी को देखा।

सासुजी हँस दीं, बोलीं—इसमें शक नहीं कि तुमने बड़ा सुंदर अर्थ लगाया है, पर मुझे कह लेने दो। कालनेमि की मिसल इसलिये है कि महावीरजी कितने साधु-सज्जन थे, वह भी उसकी बातों में आ गए थे, पहले नहीं समझ सके कि इसमें छल है।"

"हूँ," मैंने कहा—"यह तो नहीं समझ सके; पर आपने अपनी पुत्री को समझा दिया होता कि वह मकरी-अप्सरा बनकर मुझे भेद बतला देतीं।"

"पर वह मकरी नहीं, न मकरी की तरह उसने तुम्हें पकड़ा है, और जब कि उस तरह नहीं पकड़ा, तब मरकर अप्सरा

बनकर भेद बतलाने की उसे आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु तुम अगर उसे मारकर यह भेद जानना चाहोगे, तो हत्या ही तुम्हारे हाथ लगेगी।"

सासुजी के ज्ञान पर मुझे आश्चर्य हुआ, खास तौर से इसलिये कि उनकी बात का कोई तात्पर्य मेरी समझ में नहीं आया।

कुल्लीवाली चारपाई पर बैठी हुई सासुजी ने स्नेह के कंठ से मुझसे पूछा—"तुम्हारी और कुल्ली की क्या बातचीत हुई ?"

उच्छ्वसित होकर मैं कुल्ली की आकर्षक बातचीत कहने लगा। मुस्किराकर सासुजी बोलीं—"कालनेमिवाला प्रसंग पूरा उतर रहा है। वह तुम्हें यहाँ से ले जाना चाहता है।"

मुझे बहुत बुरा लगा। मैंने पूछा—"तो क्या यहाँ क़िला नहीं है ?"

"क़िला है," सासुजी ने कहा—"लेकिन उसका मतलब तुम्हें क़िला दिखाना नहीं मालूम देता।"

"यह आपको कैसे मालूम हुआ ?" मैंने रुखाई से पूछा।

"इस तरह कि कुल्ली के हथकंडे हमें मालूम हैं।"

बात फिर भी मेरी समझ में न आई। सासुजी गंभीर होकर बोलीं—"जब जाना, तब चंद्रिका को साथ ले जाना। अकेले उसके साथ हरगिज़ जाना नहीं हो सकता।"

"क्यों ?" मैंने कहा—"क्या कुल्ली मुझसे ज़्यादा शहज़ोर है, जो चंद्रिका बल पहूँचायगा ?"

सासुजी हँसीं, कहा—"यह तो जानती हूँ, लेकिन फिर भी तुम लड़के हो, मा-बाप की बात का कारण नहीं पूछा जाता।"

कहकर उठीं, और कहा—"चलो, नहा लो, भोजन तैयार है।"

---

(६)

मैं बचपन से आजादी-पसंद था। दबाव नहीं सह सकता था। ख़ास तौर से वह दबाव, जिसकी वजह न मिलती हो। एक घटना, अप्रासंगिक न होगी, कहूँ। मैं आठ साल का था। पिताजी जनेऊ करने गाँव आए थे। गाँव के ताल्लुक़ेदार पं० भगवानदीनजी दुबे थे। उन्होंने एक पतुरिया बैठाई थी। उससे तीन लड़के और एक लड़की हुए थे। जब की बात है, तब पं० भगवानदीन गुज़र चुके थे। ताल्लुक़ा उनकी धर्मपत्नी से पैदा हुए पुत्र के नाम था। एकाएक मर गए थे, इसलिये पतुरिया को और उससे पैदा हुए लड़कों को अचल संपत्ति कुछ नहीं दे जा सके थे।

बाद को वसूली में पतुरिया के लड़के अड़चन डालते थे। इसलिये उनके अधिकारी भाई ने खाने के लिये उन्हें कुछ बाग़ात और मातहत खेत दिए थे। मज़े में गुज़र होता था। पतुरिया थी। उसके लड़कों के नाम हैं—शमशेरबहादुर, जंगबहादुर, फ़तहबहादुर और लड़की का नाम परागा। सबसे छोटे फ़तहबहादुर मुझसे आठ साल बड़े थे। चौधरी पं० भगवानदीन ने सबसे बड़े शमशेरबहादुर को बड़े प्रयत्न से शिक्षा दिलाई थी। मैंने उनका सितार बाद के जीवन में सुना है। वह वाक्य प्रशंसा के साथ मुझे अब तक याद है। शमशेर का उन्होंने जनेऊ भी किया था, और कहते हैं, जनेऊ-भोर के ब्रह्मभोज में अपनी ताल्लुक़ेदारी के ज़ोर प्रभाव में आए और-और ब्राह्मणों को आमंत्रित करके खिलाया भी था। इसके बाद शमशेर का एक विवाह भी किया था। लड़की ख़ालिस ब्राह्मण-घर की नहीं, बाला ब्राह्मण-विधवा मिली, उससे किया। तब से यह परिवार अपने को ब्राह्मण समझता है। ज़रूरत पड़ने पर ये लोग शमशेरबहादुर दुबे, जंगबहादुर दुबे लिखकर सही करते हैं। अपनी मा पतुरिया को उसी तरह भोजन देते थे, जैसे एक हिंदू यवनी को देगा। उतने पर भी ताल्लुक़ेदार साहब की आँखें मुँदने के साथ-साथ गाँव के लोगों ने इनकी तरफ़ से भी मुँह फेर लिया। इनके यहाँ का पान-पानी गाँव तथा खेंड़ के चारो ओर बात-की-बात में बंद हो गया। जब मैं गया, तब ये इसी अचल अवस्था में थे। प्रतिशोध की ताड़ना से इन्होंने गाँव तथा खेंड़

के हर घर का इतिहास कंठाग्र कर रक्खा था। और, अधिकारी-अनधिकारी जो भी इनसे भली तरह बातें करता था, उसे घेरकर घंटों सुनाते रहते थे—"रामचरण की बेवा लड़की के लक्खू पासी का हमल रह गया था ; शिवप्रसाद मिसिर की बहन बीस साल की ब्याही न होने की वजह लछमन लोध के साथ भग गई ; रामदुलारे तिवारी अपने छोटे भाई की बेवा स्त्री को बैठाले हैं ; सुंदरसिंह का लड़का पल्टन में था, ससुर ने पु[illegible] हमल कर दिया, बात फैल गई, थानेदार आए, फिर रुपया देकर दबाया, और पुतोहू को बेटे के पास लेकर चले, कहकर कलकत्ता जाने कहाँ पहुँचे, वहाँ लड़का होने पर उसे मारकर पुतोहू को बेटे के पास ले गए ; कहा—"संग्रहणी हो गई थी, कलकत्ता इलाज कराने गए थे।" गाँव आने पर इसी खानदान का मुझ पर सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा। यही मुझे आदर्श आदमी नजर आए, चेहरे-मोहरे के, बात-चीत के, उठक-बैठक के। तब मेरा जनेऊ नहीं हुआ था, इसलिये खान-पान की रोक-थाम न थी। पतुरिया मुझसे स्नेह करती थी, खिलाती थी और लतीफे सुनाती थी। नए ढंग के कुछ दादरे और गजलें सिखाई थीं। एक दिन उनके छोटे लड़के ने, जिसका मुझ पर ज्यादा प्रभाव था, कहा—"तुम्हारे बड़े चाचा हमारे यहाँ नौकर थे, हमारे घोड़े ने उनका हाथ काटकर बेकाम कर दिया था, तब हमने माफी दी थी, वह जमीन आज भी तुम्हारी चाची

दखल करती हैं।" यह बात सच है। लेकिन ताल्लुक़ेदार भगवानदीनजी ने जब माफ़ी दी थी, तब उनके यह पुत्र-रत्न भूमिष्ठ नहीं हुए थे। मैं तब यह इतिहास नहीं जानता था। मुझे मालूम पड़ा, यह सब इन्होंने किया है। इसके बाद कहा—"अभी तुम हमारे यहाँ का खाते हो, जब जनेऊ हो जायगा, न खाओगे।" मैंने ख़ुदबख़ुद सोचा—"यह अन्याय है। अगर आज खाते हैं, तो कल क्यों न खाएँगे?" पगागा बहन ने कहा—"नदल्दू सुकुल के यहाँ महुए की लप्सी खाओगे, हमारे यहाँ हलुआ नहीं।" मुझे झेंप मालूम दी। मैं हलुआ छोड़कर लप्सी नहीं खाता, मन में कहा। कुछ दिन बाद जनेऊ हुआ। अब तक इस घर के आदमी-आदमी ने बग़ावत के लिये मुझे तैयार कर लिया था। मैं प्रतिज्ञा कर चुका था कि जनेऊ चाहे तीन बार हो, लेकिन मैं यहाँ भोजन न छोड़ूँगा। इनकी बातें मुझे संगत मालूम देती थीं। अगर गाँववाले कभी इनके यहाँ खाते थे, तो अब क्यों नहीं खाते? जनेऊ हो जाने के दूसरे रोज़ पिताजी ने एकांत में बुलाकर मुझसे कहा—"अब आज से, ख़बरदार, पतुरिया के घर का कुछ खाना-पीना मत।" मैंने कहा—"पतुरिया का छुआ तो उनके लड़के भी नहीं खाते-पीते।" पिताजी ने कुछ समझाकर कहा होता, तो मेरी समझ में बात आई होती, उन्होंने डाँटकर कहा—"उसके हाथ का भी मत खाना।" मैंने पूछा—"जब ताल्लुक़ेदार थे, तब आप लोग इनका छुआ

खाते थे ?" पिताजी ने होंठ चबाकर कहा—"हम जैसा कहते हैं, करु।" यहीं मैं कमजोर था। दिल से बात न मानी। जनेऊ के बाद दो-तीन दिन कहीं न गया, जनेऊ चढ़ाता-उतारता रहा। दिन-भर में कितने जनेऊ बदलने पड़ते थे। जनेऊ के बाद दो दिन पतुरिया के घर न गया; लोगों की धारणा बँध गई, मैं रोक दिया गया, और बात मैंने मान ली। तीसरे या चौथे दिन पं० फ़तहबहादुर दुबे कुएँ पर नहाने का डौल कर रहे थे, एकाएक मैं पहुँचा। मुझे देखकर वह मुस्किराए। मेरे दिल में जैसे तेज़ तीर चुभा। बड़ा अपमान मालूम दिया। मैंने उनके पास पहुँचकर कहा—"भैया, पानी पिला दीजिए।" भैया प्रसन्न हो गए। डोल से लोटे में पानी लेकर मुझे पिलाने लगे। पिलाते वक़्त उन्हें गर्व का अनुभव हो रहा था। मुझे भी खुशी थी, जैसे कोई क़िला तोड़ा हो। उन्होंने गाँव के और लोगों को देखकर अपने ब्राह्मणत्व का गर्व किया था, मैंने अपनी प्रतिज्ञा-रक्षा की। जिन पर भैया फ़तहबहादुर ने फ़तह पाई थी, उनमें भी सिर उठाने का हौसला कम न था। वे पिताजी के पास गए, और सिर उठाकर कहा—"आपका लड़का सबके सामने पतुरिया के छोटे लड़के का भरा पानी उन्हीं के लोटे से पी रहा था। अभी नादान है, इसलिये इस दफ़ा माफ़ किए देते हैं; फिर अगर ऐसी हरकत करता देखा गया, तो हमें लाचार होकर आपसे व्यवहार तोड़ना होगा।" पिताजी पहले आज्ञा दे चुके थे, फिर ब्राह्मणों ने बात सभ्य ढंग से कही थी, पिताजी

का क्रोध सप्तम सोपान पर पहुँचा। एक तो सिपाही आदमी, फिर हृष्ट-पुष्ट, इस पर व्यक्तिगत और जातिगत अपमान, कहा है—"सब ते अधिक जाति-अपमाना।" जाते ही मुझे पकड़कर फ़ौजी प्रहार जारी कर दिया। मारते वक़्त पिताजी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाह के बाद पाए हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। मैं भी, स्वभाव न बदल पाने के कारण, मार खाने का आदी हो गया था। चार-पाँच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था, और प्रहार की हद भी मालूम हो गई थी। जब पिताजी के बिजली के हाथ छुट रहे थे, मैं चिल्लाता हुआ उनकी पहले की मारें याद कर रहा था—"एक दफ़ा जाड़े के दिनों में रात आठ बजे मैंने बग़ल की बाड़ी में पाख़ाने की हाजत रफ़ा की, और योरपियनों के काग़ज़ का काम बैंगन के पत्तों से लिया, फिर भोजन के लिये रसोई जाना ही चाहता था कि भाभी ने रोक दिया, उन्होंने झरोखे से मुझे देख लिया था—पिताजी से यथातथ्य कह दिया। पिताजी पहले गरजे, फिर एक हाथ से मेरी बाँह पकड़कर टाँग लिया, और ताल की ओर ले चले उसी तरह टाँगे हुए। वहाँ उसी तरह पकड़े हुए डुबा-डुबाकर नहलाने लगे, 'सोचता जा, सोचता जा' कहते हुए।

जब अपनी इच्छा-भर नहला चुके, तब प्रहार के ताप से जाड़ा छुड़ाने लगे।" याद आया—"एक बार एकांत में मैंने पिताजी को

सलाह दी थी—तुम्हारे मातहत इतने सिपाही हैं, तुम इस राजा को लूट क्यों नहीं लेते ? पिताजी ने सोचा, यह किसी दुश्मन की सिखाई बात है, जो उनकी नौकरी लेना चाहता है। मुझे मार-मारकर अपने दुश्मन का भूत उतारते हुए पूछने लगे कि किसने सिखलाया है। मैं किसका नाम बतलाता। वह उद्भावना मेरी ही थी। मैं जितना ही कहता था, यह बात मेरी ही सोची हुई थी, पिताजी उतना ही संदेह करते और मार-मारकर पूछते जाते थे। मैं कुछ देर बाद बेहोश हो गया था।" (तब से आज तक मैं नौकर और नौकरी को पहचानता हूँ। इस बयालीस साल की उम्र में, पहले, बड़ी मजबूरी में नौकरी की थी, सिर्फ़ दो-ढाई साल चली। अस्तु) चाँटे की ताल-ताल पर पिताजी क़बूल करा रहे थे, फिर तो मैं पतुरिया के यहाँ का पानी न पिऊँगा, मैं स्वीकार कर रहा था। किसी तरह छुट्टी मिली। दो-तीन दिन समय दर्द अच्छा होने में लगा। एक दिन मैं बाहर निकला कि दुर्भाग्य से फिर वैसा ही प्रकरण आ पड़ा। गाँव के मुखिया क्रोध से भरे हुए, गाँव के लोगों की रक्षा के विचार से गए, और गंभीर होकर नाम लेते हुए कहा—"क्या तुम दूसरों का भी धर्म लेना चाहते हो ? आज तुम्हारा लड़का पतुरिया के लड़के से ले-लेकर भूने चने चबा रहा था। आज से गाँव के ब्राह्मणों में तुम्हारा व्यवहार बंद है।" ओज की मात्रा पिताजी में उनसे अधिक थी। फिर मुखिया ने ये बातें डाँट के साथ कही थीं। व्यक्तिगत बात को व्यक्तिगत रूप देते

हुए पिताजी ने कहा—"तू हमारा पानी बंद करेगा ? तू पासी का है, गाँव में जा और पूछ, तेरी लड़की पटने में एक-दो-तीन-चार, एक-दो-तीन-चार कर रही है—हम अपनी आँखों देख आए हैं। माना कि चौधरी भगवानदीन का काम बेजा था, लेकिन उनके सामने कहते, नहीं, जब तक वह जिए, इन्हीं लड़कों की (अंग-विशेष का उल्लेख कर कहा) धो-धोकर पीते रहे, अब सब छंगे के बने फिरते हो। शहर में होते, तो देखते हम, कितने आदमियों को बंबे का पानी और डॉक्टर की दवा छुड़ाते हो। यहाँ क्या नाम के करने को कौन-सा काम और गाने को सीता-हरन।" मुखिया का थूक सूख गया। विशेष अस्वस्थ हों जैसे, धीरे-धीरे लौटे। पिताजी ने गंभीर स्नेह-स्वर से पुकारा—"अरे ए मुखिया, तमाकू खाए जाओ!"

यह मैं अब विकास पर हूँ। इन मेरी आँखों में धूल झोंकी जा रही है। मैं जरूर कुल्ली का साफ़ आसमान देखूँगा। चंद्रिका मेरे साथ कर दिया जायगा, तो उस बेवक़ूफ़ को एक काम देकर अलग कर देना कौन बड़ी बात है ? कहूँगा, अत्तार के यहाँ से रूह ले आ मालिश के लिये। रूह लेकर बड़े रास्ते पर खड़े रहना, हम वहीं मिलेंगे। देखा जाय, ये लोग कुल्ली के नाम से क्यों कान खड़े करते हैं। मैं इसी प्रकार अपना आगे का कार्य-क्रम तैयार कर रहा था कि बैठक का दरवाजा खुला। "भीतर आऊँ ?" विनीत सभ्य कंठ की आवाज आई। मैं समझ गया, कुल्ली हैं। "आइए", मैंने उसी सभ्यता से कहा। कुल्ली

एक घंटा पहले आए थे। बहुत बने-ठने। बालों से तेल जैसे टपकने पर हो। चिकन का धुला कुरता। ऊपर वास्कट। हाथ में बेंत। गर्मी के दिनों में भी पैरों में मोजे। विनीत, अप्रतिभ दृष्टि और श्री-हीन मुख। बात-बात में कालिदास के "शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः।" तब चाटूक्ति अच्छी लगती थी, क्योंकि उसका दर्शन न समझता था, कालिदास का यौन विज्ञान भी नहीं; समझता तो उस दृष्टि, चेहरे और बातचीत से ही खतरा कर दिया होता। कुल्ली ने बड़े आदर से इलायची दी। मैंने ले ली। कहा—"आप घंटे-भर पहले आए।" कुल्ली ने उत्तर दिया—"पाँड़ेजी का मंदिर भी रास्ते में देख लेंगे।"

सासुजी पहले से सतर्क थीं। फाटक बंद करके उसी दालान में अपना पलँग डलवाया था, और दुपहर-भर कुल्ली का रास्ता देखती रहीं। चंद्रिका को अपनी ही दालान में सुलाया था। दुपहर-भर उससे हम लोगों की बातें पूछती रहीं—"कैसे रहते हैं, क्या खाते हैं, कौन कैसे हैं, घर में किसका स्वभाव अच्छा है।" आदि-आदि। चंद्रिका बहुत अर्थों में बेवकूफ था। उससे घर की कोई भी बात मालूम की जा सकती थी। थोड़ी देर में देखता हूँ, अपने डंडे में अच्छी तरह तेल लगाए हुए चंद्रिका बैठक के भीतर आए, साथ चलने के लिये कपड़े पहनकर बिलकुल तैयार होकर। चंद्रिका को देखकर कुल्ली कुछ सहमे से। फिर उससे कहा—"एक लोटा पानी हमारे लिये ले आओ।" चंद्रिका पानी लेने गया, तो मुझसे बोले—"क्या यह भी साथ जायगा?

इसका कौन-सा काम है ?" कुल्ली के कहने से मेरा कौतूहल बढ़ा। मैंने कहा—"साथ जाना उसका फर्ज़ है। लेकिन मैं उसे सौदा लेने के लिये दूसरी जगह भेज दूँगा।" कुल्ली ने अपने ढंग से समझा। कुल्ली ने सोचा, मैं कुल्ली का इरादा समझ गया हूँ ; उनकी अनुकूलता कर रहा हूँ ; मैं वैसा ही आदमी हूँ, जैसा कुल्ली ने सोचा था।

चंद्रिका पानी ले आया। दो-एक छींटे मुँह में मारकर कुल्ली ने कहा—"बड़ी गर्मी है। इतना ही आया, ब्रह्मांड फट रहा है।" चंद्रिका कुल्ली को देख-देखकर आज़मा रहा था कि एक झपट होने पर आसमान हिला सकेगा या नहीं। मुँह में छींटे मारकर, दो-एक घूँट पानी पीकर कुल्ली ने कहा—"अब देर न कीजिए।"

मैं घर के भीतर चला। फाटक के पास जाते ही मालूम हुआ, सारा घर साँस साधे हुए है। फाटक खोलने पर सासुजी मिलीं, स्तब्ध भाव से मुझे देखती हुई। उनकी बेटी उनकी आड़ में। मैं सीधे अपने कमरे में गया। बाल कंघा किए, कपड़े बदले, जूते पहने; फिर छाता लेकर बाहर निकला। सासुजी रास्ता रोककर खड़ी हो गईं। अपने यहाँ का एक डंडा देती हुई बोलीं—"इसे भी ले लो। जंगल का रास्ता ठहरा।" मैंने कहा—"ज़रूरत पर मैं छाते से काम ले लूँगा।" सासुजी की बेटी हँसी। मैं बाहर निकला।

मैं फिर बैठके में न घुसूँ, इस विचार से कुल्ली दरवाजे के

पास आ गए थे, मेरे निकलते ही निकल पड़े। कुल्ली के पीछे चंद्रिका भी निकला। कुल्ली ने उसे घृणा से घूरा, पर कुछ कहा नहीं। रास्ते पर जाकर खड़े हो गए। मैं भी बढ़ा। मेरे पीछे चंद्रिका। चंद्रिका का रहना कुल्ली को अखर रहा था। मुझे सासुजी की बात याद आ रही थी कि कुल्ली मुझे यहाँ से ले जाना चाहता है। उसका उद्देश किला दिखाना नहीं। पर उसका उद्देश क्या है, जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। इसी समय हम लोग बड़े रास्ते पर आए। कुल्ली ने एक दफ़ा मेरी तरफ़ देखकर इशारा किया कि अब इसे बिदा कर दो। वह इशारा मुँह और आँख का बनना मुझे बड़ा अच्छा मालूम दिया। दो-एक दफ़ा ऐसे इशारे और हों, देखूँ, इस अभिप्राय से चंद्रिका को लिए रहा कुल्ली का उत्साह टूट गया। चाल धीमी पड़ गई। पर आशा से हृदय बाँधकर पाँड़ेजी के शिवाले की तरफ़ चले। कुछ दूर पर शिवाला मिला। चारो ओर घूमकर हम लोगों ने मंदिर देखा, देवता के दर्शन किए, फिर मंदिर की चित्रकला देखते रहे। फिर बैठकर कुछ देर विश्राम करने और पुजारीजी की बतचीत सुनने लगे, ज्यों-ज्यों देर हो रही थी, कुल्ली का पेट ऐंठ रहा था। पुजारीजी की बातचीत चल रही थी कि उस साल भगवान् का जन्म-दिन के दिन मुहर्रम पड़ा; जब ताज़िए उठ रहे थे, पुजारीजी भगवान् की आरती कर रहे थे; आरती में खूब बाजे बज रहे थे, इंस्पेक्टर साहब के पूछने पर पुजारीजी

ने कहा कि जिनके यहाँ आदमी मरा, और कहीं लाश का पता नहीं, उनके यहाँ तो यह सब, और पुजारीजी के यहाँ आज भगवान् पैदा हुए (कहते हैं, उसी दिन पुजारीजी की स्त्री के लड़का हुआ था), तो यहाँ कितना उछाह होना चाहिए। कुल्ली ने बीच में टोककर कहा—"महाराज, अभी और जगहें देखनी हैं।" कहकर उठकर खड़े हो गए। मैं पुजारीजी की बात खत्म होने पर उठा। तब तक कुल्ली सैकड़ों मर्तबे निगाह से मुझे उठाते रहे। मैं देखता और सुनता रहा। शिवाले के बाहर निकलकर कुल्ली ने फिर इशारा किया। इस बार कुल्ली का इशारा चंद्रिका ने देख लिया। लेकिन बात उसकी समझ में न आई। उसने सोचा था, आगे चलकर कुल्ली को मारने की नौबत आएगी; पर इस इशारे में उसे काफ़ी स्नेह दिखाई दिया। इसी समय अत्तार के यहाँ से मैंने रूह ख़रीद लेने की आज्ञा दी। चंद्रिका असमंजस में पड़ गया—उसे सासुजी की आज्ञा साथ न छोड़ने के लिये थी; सासुजी की बात याद आई—साथ न छोड़ना, दोस्त-दुश्मन कौन कैसा साथ रहता है; लेकिन कुल्ली को दुश्मन में शुमार न कर सकने के कारण उतरे गले से कहा—"मैं भी क़िला देख लेता।" कुल्ली ने कहा—"क्या आज से क़िले का आना बंद हुआ जाता है? कल देख लेना; कहीं मालिक की हुक्म-अदूली की जाती है? जाओ, रूह ख़रीद लो। वह आगे दूकान है।" चंद्रिका मेरी तरफ़ देखने लगा। मुझे भी उत्साह था। कहा—"ख़रीद

कर यहीं या बड़े रास्ते पर रहना। हम घंटे-भर में आ जाते हैं।"

चंद्रिका मुड़ा। कुल्ली ने उत्साह से सीना तानकर गर्दन उठा दी। मुझे भी यह मुद्रा अच्छी लगी। बंगाल में ऐसी अंग-भंगी देखने को न मिली थी। हम ढाल से नीचे उतरे। क़िला देख पड़ने लगा। मिट्टी के दो काफ़ी ऊँचे टीले हैं, एक दूसरे से जुड़े हुए। इन्हीं पर इमारत थी। इस समय केवल एक बारहदरी दूर से देख पड़ती है। क़िले के चारो तरफ़ ईंटों की चारदीवार थी, जगह-जगह मालूम देता है। ईंटें वहीं-कहीं बहुत बड़ी हैं। बाक़ी इमारत की ईंटें लखनऊ की जैसी कागज़ी थीं, लेकिन बहुत पकी हुई मज़बूत। घुसते एक फाटक मिला, मज़े का, इन्हीं ईंटों का बना। फाटक का रास्ता कागज़ी ईंटें गाड़कर बनाया हुआ, नीचे से ऊपर को चढ़ता हुआ, गऊघाट की तरह का। दूर से दृश्य अच्छा मालूम देता है, ऊपर से और अच्छा। हम लोग फाटक से होकर चढ़ते हुए क़िले के भीतर गए। जाने पर प्राचीनता का नशा जकड़ लेता है, जिसकी स्तब्धता दूर इतिहास-काल में ले जाकर एक प्रकार का प्रगाढ़ आनंद देती है। कुल्ली ने दूसरे टीले की तरफ़ हाथ उठाकर कहा—"वह रनवास है। बैठ गया है, दो-एक जगह से मालूम देता है। नीचे की दालानें देख पड़ती हैं। एक तहख़ाना भी है! लोग कहते हैं, यहाँ बड़ी दौलत है।" फिर आगे बढ़े। एक जगह, एक मस्जिद थी, टूटी हुई। कुल्ली ने कहा—"यह मस्जिद है। शाह का क़ब्ज़ा होने के बाद बनी

थी। इसीलिये दूसरी इमारतों के मुक़ाबले नई मालूम देती है सामने यह सिपाहियों के रहने की जगह थी, अब कुछ क़ब्रें हैं। देखिए। उस फाटक से उस बारहदरी तक कई फाटक थे। ड्योढ़ियाँ थीं। सिपाही पहरे पर थे। जगह देखते जाइए, धीरे-धीरे कैसी ऊँची होती गई है। बारहदरी के पास क़िला काफ़ी ऊँचा है।" वैसे ही बढ़ते हुए कुल्ली ने दाईं तरफ़ एक कुआँ दिखलाया। उस समय वह सूख गया था। कुएँ के आगे, ढाल में नीचे, क़िले का नाबदान है। मुसलमानों का अधिकार होने पर क़िले की पत्थर की मूर्तियाँ वहाँ फेंक दी थीं, अब भी काफ़ी संख्या में पड़ी हैं। इसी जगह से बाहर निकलने को, कहते हैं, एक सुरंग थी। हम लोग बारहदरी की तरफ़ चले। कुल्ली ने कहा—"पहले यहाँ बहुत अच्छी इमारत थी। कुछ टूट गई थी। अँगरेजों ने मरम्मत कराई; और अपनी कचहरी लगाते थे।" मैंने देखा, जैसे एक छोटे पहाड़ की चोटी पर पहुँचा हूँ। बारहदरी के ठीक नीचे गंगा बह रही थी। कुछ सीढ़ियाँ बनी थीं, जिनसे मालूम होता था, ऊपर से नीचे गंगा तक उतरने का ज़ीना बना था। क़िला ऐसे मौक़े पर कि एक तरफ़ से गंगा का प्रवाह जैसे रोके हुए है। बरसात में क़िले की बग़ल से सटकर गंगा बहती है। एक तो वहाँ गंगा का पाट भी चौड़ा है, दूसरे बहुत बड़ा कछार भी है; ऊँची जगह, निगाह दूर-दूर तक जाती है, जिससे जी को वैसा ही प्रसाद मिलता है। देखकर मुझे बड़ा आनंद आया। मेरी

ख़ुशी से कुल्ली भी ख़ुश हुए। बारहदरी पर जानेवाली सीढ़ी के सिरे पर बैठ गए। मैं भी थका था, बैठ गया। कुल्ली ने कहा—"दोस्त, क्या हवा चल रही है?" कुल्ली का दोस्त कहना मुझे बड़ा अच्छा लगा। मित्रता की तरफ़ और गुरुडम के ख़िलाफ़ मैं पहले से था। मैंने कुल्ली का समर्थन किया। कुल्ली मुस्किराए मेरी मैत्री की आवाज़ पर, फिर इस स्वर को और उदात्त कर बोले—"दोस्त, तुम्हारा चेहरा बतलाता है कि तुम गाते हो, कुछ सुनाओ वक़्त की चीज़।" मैं गद्गद हो गया यह सोचकर कि वक़्त की चीज़ सुननेवाला संगीत-मर्मज्ञ है। तारीफ़ से मैं अभी कल तक उमड़ आता था; उमड़ जाने पर आदमी हल्का हो जाता है, न जाना था। गाने लगा। कुल्ली सिर हिलाने लगे। मैं देखता था, ताल के साथ कुल्ली के सिर हिलाने का संबंध न था। आश्चर्य हुआ कि ऐसा समझदार यह क्या कर रहा है। इसके बाद कुल्ली ने सम की जगह समझकर "हूँः" किया; वहाँ सम न थी। एक कड़ी गाकर मैंने गाना बंद कर दिया। कुल्ली ने कहा—"यार, तुम तो बहुत ऊँचे दर्जे के गवैए हो, हमारा इतना जाना न था।" मैं फिर फूल गया। कुछ उस्तादों के नाम गिनाए, जिनमें कुछ से कुछ सीखा था, अधिकांश के नाम सुने थे; कहा—"इन सबसे मैंने यह विद्या ली है।" मेरे गुरुत्व पर गंभीर होकर कुल्ली बोले—"हाँ, ये सब लोग राना साहब के यहाँ आते हैं। पर तुम्हारी और बात है। तुम्हारा गला कहाँ है? तुम्हारा गला है, जादू है?" मैं

संयत होने लगा, कुल्ली जो कुछ कह रहे हैं, ठीक है, समझ-कर। शाम हो रही थी। घर की याद आई। मैंने कहा—"अब चलना चाहिए।" कुल्ली भावस्थ हो गए, फिर एक गर्म साँस छोड़ी, कहा—"अच्छा, चलो।" हम लोग चले।

कुल्ली जिस रास्ते से ले चले, वह नया था। मेरे पूछने पर कहा—"जरा ही दूर मेरा मकान है। अपनी चरण-रज से पवित्र तो कर दो।" तब मैं ब्राह्मण था, इसलिये चरण-रज से पवित्र करने की ताक़त है, समझता था। कुल्ली के मकान के साथ कुल्ली का देह भी संलग्न है भाव-रूप से, इसलिये उसके पवित्र करने की बात भी मेरे मन में आई, क्योंकि मैं देख चुका था, कुल्ली की भली बात का व्यंग्य रूप से लोग बुरा अर्थ लगाते हैं, फलतः कुल्ली के पवित्र होने की ज़रूरत है। कुल्ली अब तक के आचरण से किसी तरह भी अनाचरणीय मनुष्य नहीं। उसका यह भाव लोगों में व्यक्त हो जाना चाहिए। चुपचाप कुल्ली के साथ चला जा रहा था। पुराने बाजार से कुछ आगे चौरासी पर कुल्ली का मकान था। कुल्ली ने घर का ताला खोला। गृह की यह दशा देखकर मैंने सोचा—कुल्ली त्यागी मनुष्य है। जंबुकों के वन में अकेला सिद्ध वेदांत-केसरी की तरह रहता है। कुल्ली ने लालटेन जलाई। फिर कहा—"यही झोपड़ी है। घर में मैं अकेला रह गया हूँ। कुछ जमींदारी है। लड़के-बच्चे जोरू-जाते कोई नहीं, दो एक्के चलवाता हूँ। शौक़ से रहता हूँ, यह आदमियों को अच्छा नहीं लगता। मान लो, कोई बुरी लत हो, तो दूसरों को

इससे क्या ? अपना पैसा बरबाद करता हूँ ।" बात मुझे संगत मालूम दी । मैंने कहा—"दूसरों की ओर उँगली उठाए बिना जैसे दुनिया चल ही नहीं पाती।" कुल्ली खुश होकर बोले—"हाँ, लेकिन दुनिया में हमारे-तुम्हारे-जैसे आदमी भी हैं, जो लोगों के उँगली उठाने से घबराते नहीं।" कुल्ली ने बड़े स्नेह के साथ मुझे पान दिया, और मेरे पान लेते वक़्त ज़रा मेरी उँगली दबा दी। मैं बहुत खुश हुआ यह सोचकर कि ससुराल के संबंध से कुल्ली मेरे साले होते हैं, मुझसे दिल्लगी की है। मुझे खुश देखकर कुल्ली विचित्र तरह से तने। कुछ देर तक इस उत्तेजना का आनंद लेकर बोले—"कल तुम्हारा न्योता है मिठाई का। लेकिन किसी से कहना मत, क्योंकि यहाँ लोग सीधी बात का टेढ़ा अर्थ लगाते हैं। कल नौ बजे तक आ जाओ।" फिर बहुत दीन होकर बोले—"ग़रीबों पर भी कृपा की जाती है।" आज-कल जिस तरह लोग मेरा व्यंग्य नहीं समझते, उसी तरह पहले लोगों का व्यंग्य मेरी समझ में न आता था। मैंने कुल्ली का आमंत्रण स्वीकार कर लिया, और चलने को तैयार हुआ। मेरे मुँह की ओर देखते हुए कुल्ली ने कहा—"पान भी क्या खूबसूरत बनाता है तुम्हें! तुम्हारे होंठ भी ग़ज़ब के हैं। पान की बारीक लकीर रचकर, क्या कहूँ, शमशीर बन जाती है।" कुल्ली हृदय की भाषा में कह रहे थे, मैं कुल अर्थ ससुराल के संबंध से लगाता हुआ बहुत ही प्रसन्न हो रहा था।

मैं बढ़ा। कुल्ली बड़े रास्ते तक आए, और नमस्कार करके

कहा—"कल सवेरे नौ बजे इंतजार करूँगा।" मैंने भी प्रति-नमस्कार किया। ढाल के पास चंद्रिका खड़ा था। देखकर कहा—"बहुत देर कर दी बाबा, तुमने। मुझे शंका हो रही थी कि कहीं धोखा न हुआ हो।" मैंने कहा—"चंद्रिका, धोखा तो खैर नहीं हुआ, लेकिन धोखा देना है। तुम्हारी नानी पूछें, तो कहना, हम साथ थे।" चंद्रिका ने स्वीकार कर लिया। मैं कुल्ली की बातों के विचार में था, चंद्रिका के स्वभाव के अनुकूल समझाना याद न था।

सासुजी सर्वांतःकरण से हमारा रास्ता देख रही थीं। मैं कपड़े छोड़ने भीतर गया, सासुजी चंद्रिका से पूछने लगीं—"कहाँ-कहाँ गए चंद्रिका?" चंद्रिका ने उतरे गले से कहा—"कहीं नहीं, बाबा के लिये रूह लेने गया था।" इतना कह जाने पर चंद्रिका को होश हुआ। सासुजी को इतनी पकड़ काफी थी। पूछा—"भैया ने भेजा था?" "हाँ।" चंद्रिका ने रुलाई से कहा, राजी कर जाने के कारण। सासुजी ने पूछा—"फिर?" चंद्रिका रुका, और फिर सँभलकर कहा—"फिर किले गए।" सासुजी ने पूछा—"वहाँ सतमंजिला मकान देखा था?" चंद्रिका ने कहा—"हाँ।" सासुजी ने पूछा—"वहाँ एक बहुत बड़ा ताल है, वहाँ गए थे?" चंद्रिका ने कहा—"हाँ।" सासुजी ने पूछा—"किले पर लखपेड़ा बाग है, देखा था?" चंद्रिका ने कहा—"हाँ, बहुत देर तक सब लोग देखते रहे।" सासुजी समझ गईं, भीतर से एक डंडा

लाकर दिखाती हुई बोलीं—"देख, दहिजार लोध, भले आदमी की तरह ठीक-ठीक बता, नहीं तो वह डंडा दिया कि मुँह टेढ़ा हो गया, तू कहाँ था ?" चंद्रिका ने कहा—"देखो नानी, मुझे मारो मत, न मैं क़िले का नौकर हूँ, न किसी दूसरे का; जिनका नौकर हूँ, उनसे पूछ लो"

बात पानी की तरह साफ़ हो गई। सासुजी को पूछने की ज़रूरत नहीं हुई। मैं निकला, तो मुँह पर ऐसी दृष्टि उन्होंने डाली, जैसे मुँह सड़ गया हो। चंद्रिका को पास खड़ा देखकर मैं समझ गया।

कुछ देर बाद सासुजी भीतर गईं। मैं निश्चय कर लेने के विचार से बाहर निकला। पीछे-पीछे चंद्रिका भी आया। फाटक के बाहर आकर मुझे पकड़कर रोने लगा। कहा—"बाबा, मैं न रहूँगा।" मैंने कहा—"अरे चंद्रिका, इतनी जल्दी ऊब गए ? अभी कुछ दिन रूह की मालिश तो करो।" चंद्रिका ने रोनी आवाज़ में सासुजी की प्रश्नावली और अपने उत्तर सुनाए। मेरे होश उड़ गए। बड़ी लज्जा लगी। लेकिन उपाय न था।

हार खाने पर चिढ़ हुई। मन ने कहा—"क्या बिगाड़ लेंगे ? वे सभ्य आदमी ही नहीं हैं। होते, तो नौकर से भेद न लेते फिरते। इसी वक़्त पूरी लापरवाही से रूह की मालिश कराओ। इन्हें समझा दो कि तुम देहात के रहनेवाले ऐरे-ग़ैरे नहीं हो। तुम्हारी दूसरी ही बातें हैं।

मन में आते ही मैं फाटक के भीतरवाले आँगन में गया, और चारपाई पर चंद्रिका को दरी बिछाने के लिये कहा। सासुजी मेरी बिगड़ी मुद्राएँ कुछ देर तक देखती रहीं, फिर चुपचाप भीतर चली गईं। चंद्रिका ने दरी बिछाई, रूह की शीशी ले आया। मैं चित लेट गया, और छाती दिखाकर कहा, यहाँ लगाओ।

चंद्रिका ने रूह और तेल में भेद नहीं किया। २०) की रूह एक साथ गदोरी में लेकर छाती में थपथपाया, फिर कहा--"लेकिन बाबा, इतनी ही है, इससे क्या होगा?"

एक दफा मेरा जो कुछ से हुआ कि इसने बीस के मत्थे दिया; पर साँस साधे पड़ा रहा कि कुछ कहूँगा, तो अशिष्टता होगी। रूह की ख़ुशबू चारो तरफ़ उड़ चली। ससुरजी सूँघते-सूँघते बाहर निकल आए और सूँघते और आँखें तिलमिलाते हुए बोले--"अरथानें उठ रही हैं, बचा!" मैंने आवाज़ दी। उन्होंने ख़ुश होकर कहा--"इतना अतर-फुलेल न लगाया करो, हूरें पकड़ती हैं।" कहकर प्रसन्न होकर चले गए। सुगंध भीतर तक आफ़त कर रही थी। सासुजी बाहर निकलीं। चंद्रिका तल्लीन होकर तेल की-जैसी मालिश कर रहा था। सासुजी कुछ देर तक देखती रहीं। फिर पूछा--"इत्र है?" मैंने गंभीर होकर कहा--"रूह!" सासुजी चौंकीं। पूछा--"कितने की है?" मैंने उसी गंभीर शालीनता से कहा--"बीस रुपए की।" सासुजी देर तक विस्मय की

दृष्टि से देखती रहीं। फिर पूछा—"ऐसी मालिश कितने कितने दिन बाद करते हो ?" मैंने वैसे ही उदात्त स्वर से उत्तर दिया—"एक-एक दिन का अँतरा देकर।" सासुजी फिर थोड़ी देर तक देखती रहीं, और एक लड़की की तरह पूछा—"इससे क्या होता है ?" मैंने कहा—"सीना तगड़ा होता है।" मेरा सीना बचपन से चौड़ा था। सासुजी ने विश्वास कर लिया। कुछ देर तक स्तब्ध भाव से खड़ी रहकर अत्यंत स्वाभाविक स्वर से पूछा—"तुम्हारे पिताजी तनख्वाह कितनी पाते हैं ?" इसका उत्तर बड़ा अपमान-जनक था, पिताजी की तनख्याह बहुत थोड़ी थी, किसी भली जगह किसी तरह कहने लायक़ नहीं। पर जहाँ विश्व का ऐश्वर्य झूठ है, वहाँ झूठ का हिसाब लगाना भी किसी सत्य की शक्ति की बात नहीं। सही बात को दबाकर गले में खूब जोर देकर कहा—"पिाजी की आमदनी की कितनी सूरतें हैं, क्या कहूँ ? उनकी आमदनी कब कितनी हो जायगी, कहाँ से, कैसे, किससे, यह वही नहीं बता सकते।" उत्तर सुनकर सासुजी एकाएक रोने लगीं, कुछ देर रोकर स्वयं ही भाव स्पष्ट किया—"जो बाप अपने बेटे के लिये रोज मालीश में बीस रुपए की रक़म ख़र्च करता है, वह अपनी बहु के लिये बीस सौ का चढ़ाव भी नहीं लाता ?—अरे राम रे!—मुझे क्या हो गया, जो मैंने शादी कर दी!"

मुझे एक आश्वासन मिला कि पहली बात दब गई। रक़म

सूख चुकी थी, चंद्रिका रगड़-रगड़कर आग निकाल रहा था। मैंने मालिश बंद करा दी।

घर में सन्नाटा था, जिसे 'मसा नहीं भन्नाय' कहा है। देर तक भोजन के लिये बुलावा न आया। बैठा 'चर्पट-पंजरिका' के घोखे श्लोक याद करता रहा। बिलकुल विरोधाभास—एक दिन में यह हाल, तो पूरी गृहस्थी कैसे पार होगी? साले साहब, जो इस समय कई बच्चों के बाप हैं, तब मुश्किल से चार साल के थे। एकाएक चिल्लाकर रो उठे। चंद्रिका झपकियाँ ले रहा था, सोचा—खाने का बुलावा है, सजग होकर सुनने लगा, फिर वीतश्रद्ध होकर हाथों से घुटने बाँधे। मैंने पूछा—"चंद्रिका, कैसा लग रहा है?" चंद्रिका ने कहा—"बाबा, घर में भोजन कर अब तक एक नींद सो चुकता था।" मैंने कहा—"यहाँ भोजन भी तो अनेक प्रकार के मिलते हैं।" चंद्रिका ने ऊँघते हुए कहा—"तेल और निमक-मिली जव-चनी की रोटी का स्वाद यहाँ नहीं मिलता।" इसी समय सासुजी का नौकर आया, और बड़े गंभीर स्वर से आवाज़ दी—"भोजन तैयार है।" भोजन के समय बिलकुल सन्नाटा। एक-एक साँस गिनी जा सकती थी। कोई किसी से बोलता न था। मैं निरपेक्ष भाव से भोजन कर, हाथ-मुँह धोकर, अपने शयन-कक्ष में जाकर लेटा।

घर-भर का भोजन हो जाने पर कल की तरह आज भी श्रीमतीजी आईं। लेकिन गति में छंद नहीं बजे। पान दिया,

पर दृष्टि में वह अपनापन न था। मैं एक तरफ़ हट गया। उनकी आधी जगह ख़ाली कर दी। बेमन पैर दबाकर वह लेटीं। उनका मनोभाव आज क्यों ऐंठ गया, कुछ-कुछ मेरी समझ में आया। पर चुपचाप पड़ा रहा। सोचा, कमज़ोर दिल अपने आप बोलना शुरू करता है। अंदाज़ा ठीक लड़ा। कुछ देर तक चुपचाप पड़ी रहकर उन्होंने कहा—"इत्र की इतनी तेज़ ख़ुशबू है कि शायद आज आँख नहीं लगेगी।" मैंने कहा—"अनभ्यास के कारण। एक कहानी है, तुमने न सुनी होगी। एक मछुआइन थी। एक दिन नदी-किनारे से घर आते रात हो गई। रास्ते में राजा की फुलवाड़ी मिली, उसमें एक झोंपड़ी थी, वहीं सो रही। फूलों की महक से बाग़ गमक रहा था। मछुआइन रह-रहकर करवट बदल रही थी। आँख नहीं लग रही थी। फूलों की ख़ुशबू में उसे तीखापन मालूम दे रहा था। उसे याद आई, उसकी टोकरी है। वह मछलीवाली टोकरी सिरहाने रखकर सोई, तब नींद आई।" श्रीमतीजी गर्म होकर बोलीं—"तो मैं मछुआइन हूँ?" "यह मैं कब कहता हूँ।" मैंने विनय-पूर्वक कहा, "कि तुम पंडिताइन नहीं, मछुआइन हो; मैंने तो एक बात कही, जो लोगों में कही जाती है।" श्रीमतीजी ने बड़ी समझदार की तरह पूछा—"तो मैं भी मछली-कलिया खाती हूँ?" मैंने बहुत ठंडे दिल से कहा—"इसमें खाने की कौन-सी बात है? बात तो सूँघने की है। अपने बाल सूँघो, तेल की ऐसी चीकट और बदबू है कि कभी-कभी मुझे मालूम देता है कि तुम्हारे मुँह पर क़ै

कर दूँ।" श्रीमतीजी बिगड़कर बोलीं—"तो क्या मैं रंडी हूँ, जो हर वक़्त बनाव-सिंगार के पीछे पड़ी रहूँ।" "लो," मैंने बड़े आश्चर्य से कहा—"ऐसा कौन कहता है, लेकिन तुम बकरी भी तो नहीं हो कि हर वक़्त गँधाती रहो, न मुझे राजयक्ष्मा का रोग है, जो सूँघने को मजबूर होऊँ।" श्रीमतीजी जैसे बिजली के जोर से उठकर बैठ गईं, बोलीं—"तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो लो, मैं जाती हूँ।" सिर्फ़ मेरे जवाब के लिये जैसे रुकी रहीं। मैंने बड़े स्नेह के स्वर से कहा—"मेरी अकेली इच्छा से तो तुम यहाँ सोती नहीं, तुम अपनी इच्छा की भी सोच लो।"

श्रीमतीजी ने जवाब न दिया, जैसे मैंने बहुत बड़ा अपमान किया हो, इस तरह उठीं और दरवाजे खुले छोड़कर चली गईं।

मैंने मन में कहा—"आज दूसरा दिन है।"

सबेरे जब जगा, तब घर में बड़ी चहल-पहल थी। साले साहब रो रहे थे। सासुजी ने मारा था। ससुरजी खुड्डी में गिर गए थे, नौकर नहला रहा था। घर में तीन जोड़े बैल घुस आए थे। श्रीमतीजी लाठी लेकर हाँकने गई थीं, एक के ऐसी जमाई कि उसकी एक सींग टूट गई। ज्योतिषीजी बुलाए गए कि बतलाएँ, इसका क्या प्रायश्चित्त है। महरी पानी भरने गई थी, रस्सी टूट जाने के कारण पीतल का घड़ा कुएँ में चला गया था। घर का पानी खत्म हो आया था। दूसरी रस्सी न होने के कारण पानी भरना बंद था। पड़ोस में सबेरे रस्सी मिली नहीं। लोगों

ने कहा, हमारा पानी भर जाय, तब ले जाओ। चंद्रिका सबेरे से लापता था। जब मेरी आँख खुली, तब सुना, सासुजी कह रही हैं—"जब विपत आती है, तब एक साथ आती है।" मुझे इसकी अँगरेजी उक्ति मालूम थी। समझा, उठने के साथ सासुजी श्रीमतीजीवाली घटना पर मुझी को सुनाकर कह रही हैं। जमकर धीरे-धीरे उठा। घर में जितने थे, सब व्यस्त थे। क्रमशः एक-एक दुर्घटना मालूम होती गई। चंद्रिका का पता न था। ससुरजी को साफ कर जब उनका नौकर आया, उसने कहा—"चंद्रिका ने कहा है, मैं गाँव जा रहा हूँ, पैसे पास नहीं हैं, रेल की पटरी-पटरी चला जाऊँगा, रास्ता नहीं जाना, बाबा चिंता न करें, कहकर नहीं जा रहा, क्योंकि बाबा नहीं छोड़ेंगे।" फिर उसने अपनी तरफ़ से कहा कि मुझसे कह गया है कि मैं किसान आदमी हूँ, मेरी नौकरी न रहेगी, तो मुझे इसकी चिंता नहीं, किसानी और मजूरी कर खाऊँगा। मैं समझ गया, रात से ही वायुमंडल बिगड़ा है, सबेरे किसी ने उससे कुछ कहा होगा। ज्यादा शंका मुझे श्रीमतीजी पर हुई। मैंने पूछा—"जब बैल की सींग तोड़ी गई थी, तब चंद्रिका था या नहीं।" नौकर ने इशारे से सिर हिलाकर कहा—"हाँ।"

शृंग-भंग-शांति की बातचीत हो रही थी कि आठ का वक़्त हो गया। मुझे मित्रवर कुल्ली की याद आई। तैयार होकर बाहर निकला। कुएँ के पास भरा घड़ा लिए एक युवती मिली। सगुन देखकर मन प्रसन्न हो गया। कुछ आगे बढ़ने पर

दुहकर छोड़ी हुई एक गाय बछड़े को पिलाती हुई मिली। मेरी चाल और तेज हुई। कुछ लोग बड़े रास्ते पर मिले; मुझे देखकर तारीफ़ करने लगे डीलडौल, चाल-चलन की। मैं संयत मुद्रा से पैर बढ़ाए, कुल्ली के घर की तरफ़वाले रास्ते को बढ़ा। देखा, कुल्ली रास्ते पर खड़े थे। देखने के साथ पूरी स्वतंत्रता से क़दम उठाते हुए, मथुरा में नादिरशाह की सेना की तरह, मेरी तरफ़ बढ़े, जैसे मित्र के भी देश पर पूरी विजय पा ली है। मुझे भरा घड़ा मिला ही था, भरे हृदय से मैं कुल्ली को देख रहा था। कुल्ली हृदय से लिपट गए—"आओ, आओ।" मुझे मालूम हुआ, गंगा और यमुना का संगम है।

कुल्ली बड़े आदर से मुझे अपने घर ले गए। एक बड़ा आईना चारों ओर तीन-लड़ माला से सजा था। मेरे जाने के साथ ही हाथ पकड़कर सामने जाकर खड़े हुए। मैंने देखा, बिना माला पहने हम दोनों माला पहने हुए हैं। कुल्ली की कला पर जी मुग्ध हो गया। कुल्ली आईने में ही मुझे देखकर हँसे। देखकर मैं भी मुस्किराया। कुल्ली बहुत प्रसन्न होकर बोले—"अच्छा।"

फिर जल्द-जल्द भीतर एक कमरे में गए, और मिठाई की तश्तरी उठा लाए। पलँग के सामने एक ऊँची चौकी रक्खी थी, उस पर रख दी। फिर जल-भरा लोटा और गिलास वहीं रख दिया, और मुझसे बड़े विनय स्वरों से खाने के लिये कहा। मैं खाने लगा। कुल्ली विनीत चितवन से मेरा खाना देखते रहे।

भोजन समाप्त होने पर उन्होंने हाथ धुलाया-पोंछाया। फिर पान दिया।

पान खाकर मैं पलँग पर बैठा। बड़ा सुंदर पलंग। सुंदर गलीचा बिछा। कुल्ली ने इत्र की एक शीशी दिखाई, कहा—"मैंने मँगा लिया है। रूह नहीं। क्योंकि मालिश तो करनी नहीं।" मैं अज्ञातयौवन मुग्ध की तरह कुल्ली को देखने लगा। कुछ देर तक कुल्ली स्तब्ध रहे। मैंने देखा, कुल्ली का चेहरा बहुत विकृत हो गया है। मतलब कुछ मेरी समझ में न आया। कुल्ली अधीरता से एक दफा उचके, लेकिन उचककर वहीं रह गए। मैं सोच रहा था, इसे कोई रोग है। कुल्ली ने एक दफा भरसक प्रेम की दृष्टि से मुझे देखते हुए कहा—"तो मैं दरवाजा बंद करता हूँ।" लेकिन आवाज के साथ जैसे लरबराकर रह गए। कुल्ली से मुझे भय हुआ, इसलिये नहीं कि कुल्ली मेरा कुछ कर सकता है, बल्कि इसलिये कि कुल्ली के लिये जल्द डॉक्टर दरकार है। घबराकर मैंने कहा—"क्या डॉक्टर बुला लाऊँ?"

"ओह! तुम बड़े निठुर हो।" कुल्ली ने कहा।

मैं बैठा सोच रहा था कि कुल्ली की इस ऐंठन से मेरी निठुरता का क्या संबंध है। सोचकर भी कुछ समझ न पाता था।

कुल्ली एकाएक उचके, अब के भरसक जोर लगाकर, यह कहते हुए—"मैं जबरदस्ती...."

मुझे हँसी आ गई, खिलखिलाकर हँसने लगा। कुल्ली जहाँ थे,

वहीं फिर रह गए। और, वैसे ही कुएँ में डूबे हुए जैसे कहा—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।"

मैंने कहा—"प्यार मैं भी तुम्हें करता हूँ।"

कुल्ली सजग होकर तन गए, कहा—"तो फिर आओ।"

मेरी समझ में न आया कि कुल्ली मुझे बुलाता क्यों है। मैंने कहा—"आया तो हूँ।"

कुल्ली ने मुझसे पूछा—"तो क्या और कहीं भी नहीं.... ?"

बात एक भी मेरी समझ में ज्यों-ज्यों नहीं आ रही थी, त्यों-त्यों गुस्सा बढ़ रहा था। "साफ़-साफ़ कहो, क्या कहते हो ?"

कुल्ली पस्त, जैसे लत्ता हो गए।

"अच्छा, नमस्कार।" कहकर मैं बाहर निकला। वह रूप मुझे बिलकुल पसंद नहीं, इतना ही समझा।

कुल्ली की पहली मुलाक़ात का अंत हुआ। मैं घर आया, मेरी तरफ़ से चारो ओर सन्नाटा, जैसे होकर भी न होऊँ। सबको सविनय अवज्ञा करते देखकर मुझे पिताजी की याद आई। मालूम हुआ, पिताजी बहुत अभिज्ञ मनुष्य हैं। उन्होंने ससुरजी की चाल का एक वाक्य में जवाब दिया, और यहाँ का सारा वायुमंडल घहरा उठा; मैं ऐसा हूँ कि वाक्य पर वाक्य चढ़ते हैं, और मैं जवाब नहीं दे पाता।

बिलकुल व्यवहार की वाणी से सासुजी ने पूछा—"भैया, कहाँ गए थे ?" मैंने उस समय झूठ बोलना पाप समझा।

कहा—"कुल्ली के यहाँ।" अधिक बढ़ाकर कहना भी उचित नहीं मालूम दिया।

सासुजी मुँह की ओर देखकर रह गईं। शाम से ही वह निःशंक थीं। श्रीमतीजी के उठ जाने के बाद से तो शंका का लेश न रह गया था। सबेरे से निश्शंकता के निर्भय आचरण भी शुरू हो गए थे। मेरे जाने तक गति में चारुता आने लगी थी।

मैंने सोचा, हौसला तोड़ दिया जाय। चंद्रिका के चले जाने से मैं लँगड़ा हो गया हूँ। कहा—"बैल की सींग ही नहीं तोड़ी गई, मेरा पैर भी तोड़ा गया है। बैल की सींग के लिये तो आपने प्रायश्चित्त किया-कराया, मेरे पैर के लिये क्या इलाज सोचा है?"

सासुजी पैर पकड़कर बैठ गईं।—"कहाँ, देखूँ?"

मैंने कहा—"अपनी बेटी को बुलाइए।"

सासुजी ने कहा—"बिटिया, रात को पैर दबाने के वक़्त तुमने भैया की नस तिड़का दी है? यहाँ आओ। हमसे यह क्यों नहीं कहा?"

"कहाँ?" शंकित दृष्टि से देखती हुई श्रीमतीजी आईं।

फ़ुटबाल खेलते-खेलते मेरे दाहने अँगूठे में गुम्मड़ पड़ गया था, बाएँ से दाहना अँगूठा मोटा मालूम देता है। सासुजी को कुछ नज़र न आया, मोटा अँगूठा देख पड़ा, तो पकड़कर कहा—"यह है?" फिर स्वगत कहा—"यही होगा।" फिर

अपनी बेटी से बोलीं—"देखो तो बिटिया, उससे मोटा जान पड़ता है न ?"

उनकी लड़की चिंतित भाव से बोलीं— "हाँ।" फिर मा की अनुवर्तिता की। वह भी पकड़कर देखने लगीं।

सासुजी ने कहा—"क्यों भैया, हल्दी-चूना गर्म कर दें ?"

मैंने सोचा, "जिसने पैर पकड़ा है, उसे माफ़ करना चाहिए। इस समय चंद्रिका की बात रहने दी जाय। "वैराग्य से कहा—"रहने दीजिए।"

बड़े स्नेह से सासुजी ने कहा—"नहीं, रहने क्या दिया जाय ! जाओ तो बिटिया, हल्दी-चूना गर्म करो।"

मैं, जो सुलह हो जाय जंग होकर, सोच रहा था। इसलिये रहस्य को बाद में ही रहने दिया। श्रीमतीजी हल्दी-चूना गर्म करने लगीं।

---

(८)

दूसरे दिन रूह की मालिश के लिये कहने पर सासुजी ने कहा—"हमारे यहाँ रूह की मालिश नहीं चल सकती। हम इतने बड़े आदमी नहीं। कड़ुआ तेल लगाओ। खाया तो घी जाय, जो रुपए में सेर-भर मिलता है, और लगाई रूह, जो अस्सी रुपए तोले आती है?"

मैंने सोचा, अब गवहीं ख़त्म है। लेकिन श्रीमतीजी का आकर्षण जबरदस्त था। यद्यपि 'चर्पट-पंजरिका'-स्तोत्र कई बार उन्हें सुना-सुनाकर पाठ किया, फिर भी वैराग्य की मात्रा श्रीमतीजी ने मुझमें कभी नहीं देखी। वह भी मेरे चारो ओर

धोखा-ही-धोखा देखने लगीं। ललित-कला-विधि में मैं कालिदास नहीं था, उन्होंने मेरा शिष्यत्व स्वीकार नहीं किया।

रुपए ख़त्म हो चुके थे। रूह अपनी गाँठ से नहीं मँगा सकता था। सासुजी इस ताक में थीं, मैं कितने दफ़े मँगाकर मालिश कराता हूँ, देखें; मेरे पिताजी ने ख़र्च के रुपए दिए ही होंगे। हृदय में निश्चय था, सब झोल है। रूह की मालिश कराते उन्होंने किसी बड़े रईस को भी नहीं देखा-सुना।

मेरा दम घुट रहा था। रह-रहकर मन में उठता था, पिताजी की तरह दूसरी शादी की बात कहूँ। लेकिन कुल्ली की तरह दिल से बैठ जाता था। यद्यपि वैराग्योद्दीपक "का ते कान्ता कस्ते पुत्रः" गाया करता था, फिर भी श्रीमतीजी दिल से अच्छी तरह जानती थीं, बिना कांता के एक रात इनकी पार नहीं हो सकती, और आधुनिक प्रेमियों की तरह जिस शब्द-न्यास से यह मुझसे पेश आते हैं, यह दूसरा विवाह हरगिज़ न करेंगे। यानी मैं उन्हें छोड़ नहीं सकता। बात सही थी। दिन-भर विराग रहता था, रात को श्रीमतीजी को देखने के साथ अनुराग में परिणत हो जाता था। श्रीमतीजी मौन साधे हुए अपने मनोभावों की मारें सहती थीं। एक दिन मुझसे न रहा गया, हालाँकि इसलिये नहीं कि मैं श्रीमतीजी के मनोभाव समझता था, बल्कि इसलिये कि श्रीमतीजी मेरे अधिकार में पूरी तरह नहीं आ रही थीं, अर्थात् शिष्यत्व स्वीकार नहीं कर रही थीं। वह समझती थीं, मैं और जो कुछ भी जानता होऊँ, हिंदी का पूरा गँवार हूँ,

हिंदी का वैसा गँवार नहीं, जैसे पढ़े-लिखे सैकड़ा पीछे ९९ होते हैं, बिलकुल ठोस मूर्ख। मुझे श्रीमतीजी की विद्या की थाह नहीं थी। एक दिन बात लड़ गई। मैंने कहा—"तुम हिंदी-हिंदी करती हो, हिंदी में क्या है?" उन्होंने कहा—"जब तुम्हें आती ही नहीं, तब कुछ नहीं है।" मैंने कहा—"हिंदी मुझे नहीं आती?" उन्होंने कहा—"यह तो तुम्हारी जबान बतलाती है, बैसवाड़ी बोल लेते हो, तुलसी-कृत रामायण पढ़ी है, बस। तुम खड़ी बोली का क्या जानते हो?" तब मैंने खड़ी बोली का नाम भी नहीं सुना था। पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त आदि तब मेरे लिये स्वप्न में भी नहीं थे, जैसे अब हैं। श्रीमतीजी पूरे उच्छ्वास से खड़ी बोली के ऐसे धुरंधर साहित्यिकों के बीसियों नाम गिनाती गईं। जैसे लेख में उद्धरण पर उद्धरण देखकर पाठक लेखक की विद्वत्ता और विचारों की उच्चता पर दंग हो जाता है, वैसे ही मैं भी खड़ी बोली के साहित्यिकों के नाम-मात्र से श्रीमतीजी की खड़ी बोली के ज्ञान पर जहाँ का वहीं रह गया। अब समझता हूँ—'सहस्र नाम' का प्रभाव इतना क्यों है।

मैंने निश्चय किया कि अब यहाँ मेरी दाल न गलेगी। पाँच-छ रोज हो गए। रूह की मालिश नहीं कराई। सासुजी जैसे दिन गिन रही थीं, इधर श्रीमतीजी की खड़ी बोली का ज्ञान दिन-पर-दिन गालिब हो रहा था। सोचा, घर चला जाऊँगा। लेकिन

मारे प्रेम के स्टेशन की तरफ़ देखने की इच्छा नहीं होती थी। इसी समय किसी एक उपलक्ष में गाने का आयोजन हुआ। सासुजी ने एक दिन अपनी पुत्री के संगीत की तारीफ़ की थी। कहा था—शहर में कोई लड़की और औरत मुक़ाबला नहीं कर सकती। मैंने सोचा, आज सुन लूँगा, चलते-चलते श्रवण सार्थक हो जायँगे। मजलिस लगी। ढोलक बजने लगी, लेकिन औरतों की-जैसी 'ठुमुक-ठुमुक, ठुमुक-ठुमुक' नहीं। मैंने सोचा, कुछ आनंद आएगा—"टिकारा वदन्ति।" पुरुष भी जमने लगे, मनचले, कुछ नहीं, तो दूसरे की औरत का हाथ ही पैर देख लेनेवाले। भीतर से पान आने लगे। पान-तंबाकू खाकर एक-एक पीक थूकते हुए घर भ्रष्ट करनेवाले औरतों की आलोचना करने लगे। वहाँ गाना शुरू हुआ। श्रीगणेश ग़ज़लों से। जो औरत ग़ज़ल गाना नहीं जानती, उसकी आफ़त। ग़ज़ल गानेवालियों से प्रभावित। अक्सर ग़ज़ल न जाननेवाली पुरानी वृद्धाएँ थीं, भजन गानेवाली; उन पर नवीनाओं का वैसा ही रोब था, जैसा आजकल साहित्य और समाज में देखा जाता है। मुझे ताज्जुब यह था कि अँगरेज़ों के वक़्त ही अँगरेज़ी इतना अपना ली गई कि चाल-ढाल, बातचीत, अदब-क़ायदा, खान-पान, उठक-बैठक, हेत-व्यवहार, यहाँ तक कि राजनीतिक विचारों तक में अपना ली गई, और इतनी जल्दी; पर मुसलमानों के वक़्त फ़ारसी और हाफ़िज़ की ग़ज़लों के लिये हमारी देवियों ने इतनी देर क्यों की, जिस

तरह आज की बी० ए० पास देवी धड़ल्ले से घूमती है, अँग-
रेजी बोलती है, योरप में कोर्टशिप करती है, पियानो बजाती
है, और पिछड़ी हुई देश की स्त्रियों को शिक्षा देती है, उसी तरह
हमारी प्राचीनाओं ने गजलों को क्यों नहीं अपनाया; चाहिए
तो यह था कि अपनी सांस्कृतिक विभूति अपनी बेटियों को
देतीं; मालूम हुआ कि वे विचारों में मार्जित और उदार नहीं
थीं, इसलिये उनका सांस्कृतिक ढाँचा बिगड़ा था, यह बात
राजा राममोहनराय को सबसे पहले मालूम हुई। खैर,
अँगरेजी अज्ञेयों का उद्धार करे; मैं तन्मय होकर गजलें
सुनने लगा। गाने के साथ-साथ बाहर आलोचना भी चलने
लगी—कौन गा रही है, यानी गाना उठाया हुआ किसका
है, यों साथ-साथ कितने ही मजे और नौसिखिए गले चलते
थे। लोग गजलों और गजल गानेवालियों को चाहते थे उनके
नमक के कारण, पर उनके चरित्र से उन्हें घृणा थी। अब तक
श्रीमतीजी कवि-सम्मेलन के बड़े कवि की तरह बैठी थीं।
मुझे नहीं मालूम था कि लोग एक के बाद दूसरे उन्हीं के लिये
टूट रहे हैं। खैर, उन्होंने गाया। गनीमत यह कि पहले भजन
गाया, वह भी साहित्यिक गीतों का शिरोभूषण—'श्रीरामचंद्र
कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणम्।' लोग साँस रोककर
सुनने लगे। 'कन्दर्प-अगणित-अमित-छवि-नवनील-नीरज-
सुंदरम्' की जगह जान पड़ने लगा, गले में मृदंग बज रहा है।
मेरा दम उखड़ गया। यह इतनी हैं, बंगाल से पाए संस्कार

के प्रकाश में मैं न देख पाया था। इसके बाद एक ग़ज़ल हुई—"अगर है चाह मिलने की, तो हरदम लौ लगाता जा।" यह त्याग की बारूद भड़की, तो लोगों में प्रेम पैदा हो गया, बिना जनेऊ तोड़े, न-जाने क्यों ? एक दूसरे से कनखियों से बातें करने लगे। मैंने सोचा, यह मेरे प्रेम पर है, पर फिर शंका हुई, क्योंकि मैं मिल चुका था। लोग मुस्किराते हुए अपने-अपने प्रेम की थाह ले रहे थे। इसके बाद दादरा शुरू हुआ—"सासुजी का छोकड़ा, मेरी ठोढ़ी प' रख दिया हाथ। बहुत गम खा गई, नहीं चाँटे लगाती दो-चार।" एक श्रोता बहुत बिगड़े, बोले—"अपने मर्द को चाँटे लगातीं ? वैसा ही मर्द होगा।" उन्हें यह ख़याल नहीं था कि उनका मर्द सामने बैठा है। दूसरे ने मेरी तरफ़ देखकर मुस्किराकर कहा—"यह मर्द के लिये नहीं, देवर के लिये है। सासुजी का छोकड़ा देवर भी हो सकता है।" तीसरे ने कहा—"देवर तो है ही।" मेरी जान में जान आई।

कुछ देर और होकर गाना बंद हुआ। लोग जम्हाई ले-लेकर उठे। स्त्रियाँ भी एक-एक निकलने लगीं। थोड़ी देर में घर अपने ही लोगों का रह गया। श्रीमतीजी का गाना अच्छा, हिंदी अच्छी। मेरी इन दोनो विजयों की ताली तब तक नहीं खुली। संसार में हारने की-सी लाज नहीं, स्त्री सृष्टि की सबसे बड़ी हार है, पुरुष की जीत की सबसे बड़ी प्रमाण-प्रतिमा, इससे मैं हारा। एकांत में पिताजी को एक चिट्ठी लिखी,

मैं कलकत्ता जा रहा हूँ, लिखने-पढ़ने का नुकसान हो रहा है। आप जब चाहें, पानी बदलकर आएँ; मैं प्रसन्न हूँ, यहाँ कुशल है। चिट्ठी डाकखाने छोड़ी, और बिस्तरा बाँधकर तैयार होने लगा।

सासुजी ने पूछा—"भैया, बिस्तरा क्यों बाँध रहे हो ?"

मैंने कहा—"कलकत्ता जा रहा हूँ।"

सासुजी का रंग उड़ गया। गाने के बाद अपनी लड़की की गलेबाजी पर मुझसे राय लेनेवाली थीं, एकाएक हौसला जाता रहा। कहा—"बाँधना-खोलना हमारा काम है, नौकर है, कलकत्ता अभी कैसे जा सकते हो ? तुम्हारे पिताजी भी क्या कहेंगे ? यहाँ के लोग समझेंगे—दामाद गवहीं आया था, हफ्ते से ज्यादा न रख सकीं, हमारी बेइज्जती होगी।"

मैंने कहा—"बेइज्जती एकही ओर की रहने दी जाय।"

सासुजी ने कहा—"तुम्हारी कैसी बेइज्जती ?"

"अपनी बेइज्जती की बात कोई अपनी जबान से नहीं कहता।" मैंने कहा।

सासुजी सोचकर जैसे समझ गईं, यानी कुल्लीवाली बात के लिये उन्होंने सोचा कि वे लोग समझ गए, यह मुझे मालूम हो गया है। बोलीं—"मैंने तो बहुत पहले तुम्हें मना किया था कि कुल्ली का साथ अच्छा नहीं।"

मैंने कहा—"कुल्ली का साथ अच्छा नहीं या आपकी बेटी का, यह सब रहने दीजिए।"

मैंने तो सीधे ढंग से कहा था, लेकिन सासुजी एकाएक उच्च स्वर से रोने लगीं। उनके साथ उनकी बेटी भी, छोटी होने के कारण मंद स्वर से। भगवान् जाने इस बीच पिताजी के लिये क्या सोचा हो। घबराकर बोलीं—"मेरी बेटी तो भैया, तुम्हें भगवान् मानती है। रात का वक्त है, झूठ नहीं कहूँगी, सामने आग जल रही है, मेरे मुँह में आग लगे, तुम कहो, तो मेरी लड़की तुम्हारी बात पर अंगार खा सकती है। और, आज ही गाँव-भर की औरतें आई थीं, उसी की वाहवाही रही, हर बात पर, यों चाहे, जो कहो।"

"इसी के लिये तो जा रहा हूँ।" मैंने कहा।

सासुजी चौंकी हुई देखने लगीं। मैं फिर बिस्तरा बाँधने लगा।

ससुराल में बिस्तरा बाँधना नाराजगी का कारण है। सासुजी के मन में आया—रूह नहीं मँगाई गई, इसलिये जा रहे हैं। बोलीं—"दाम नहीं थे, इसलिये रूह नहीं मँगाई, कल वह भी आ जाती है।"

मैंने कहा—"वह तो बाहरी रूह है, यहाँ भीतरी रूना है।"

सासुजी प्रश्न-भरी चिंतित दृष्टि से देखती रहीं।

मैंने कहा—"पढ़ाई पड़ी है। फिर तैयार न कर पाऊँगा।"

आश्वस्त होकर सासुजी ने नौकर को बुलाया। उसे बिस्तरा बाँधने के लिये कहा। मुझसे सस्नेह बोलीं—"कलकत्ता जा रहे हो, ऐ, मैंने सोचा था, कलकत्ते का बहाना है, घूमकर फिर गाँव

जाओगे, और गाँव में जब कि प्लेग है, और........। कलकत्ता पढ़ाई के लिये जा रहे हो, हाँ, आगे की फिकिर तो करनी ही है।"

बिस्तरा बँध गया। ताँगा आया। रायबरेलीवाली गाड़ी के समय पर सासु और ससुरजी के पैर छूकर मैं बिदा हुआ।

---

(६)

पाँच साल बीत गए। कुल्ली मुझसे नहीं मिले। कई बार ससुराल गया-आया। मैं भी नहीं मिला। एक आग दिल में लगी थी—मैंने हिंदी नहीं पढ़ी। बंगाल में हिंदी का जानकार नहीं था, जहाँ मैं था देहात में। राजा के सिपाही जो हिंदी जानते थे, वह मुझे मालूम थी—ब्रजभाषा। खड़ी बोली के लिये अड़चन पड़ी। तब हिंदी की दो पत्रिकाएँ थीं—'सरस्वती' और 'मर्यादा'। दोनो मँगाने लगा। 'सरस्वती' चेहरे की भी सरस्वती थी, 'मर्यादा' अमर्यादा। पढ़कर भाव अनायास समझने लगा। पर लिखने में अड़चन पड़ती थी। ब्रजभाषा

या अवधी, जो घर की जबान थी, खड़ी बोली के व्याकरण से भिन्न है। 'उइ कहेन' और 'उन्होंने कहा' एक नहीं। यह 'ने' खटकता था। जो केवल भारतीय संस्कृति का शिक्षित है, उसके लिये 'ने' शूल है। 'ने' के प्रयोग भी मालूम न थे। लेकिन मिहनत सब कुछ कर सकती है। मैं रात दो-दो तीन-तीन बजे तक 'सरस्वती' लेकर एक-एक वाक्य संस्कृत, अँगरेजी और बँगला-व्याकरण के अनुसार सिद्ध करने लगा। जहाँ 'कहा', 'कही', 'कहे', 'कहीं' क्रिया के प्रयोग आते थे, वहाँ गौर से कारण की तलाश करने लगा। यह संस्कृत, अँगरेजी और बँगला-व्याकरण में नहीं। मुझे कारण भी मिला। वह आनंद कारण की प्राप्ति के बाद जो हुआ, ब्रह्मानंद से कम नहीं कहा जा सकता। ऐसी अनेक और अड़चनें पार कीं। आचार्य द्विवेदीजी को गुरु माना; लेकिन शिक्षा अर्जुन की तरह नहीं—एकलव्य की तरह पाई। व्याकरण की शिक्षा पूरी करने से पहले <u>'जुही की कली'</u> लिखी थी, जो व्याकरण की दृष्टि से बाद को पूरी उतरी। जिस तरह संसार के बड़े-बड़े कवियों के लिये कहा जाता है कि सात-आठ साल की उम्र से कविता लिखने लगे थे, उसी तरह अल्प-बुद्धि मैं भी लिखने लगा था; लेकिन तब बँगला में लिखता था। 'दरिद्राणां मनोरथाः' जैसे वे भी उठकर, कागज की पंक्तियों में खिलकर, अज्ञात के हृदय में मिल गईं। उनका कोई चिह्न शेष नहीं। सोलह-सत्रह साल की उम्र से भाग्य में जो विपर्यय शुरू हुआ, वह आज तक

रहा। लेकिन मुझे इतना ही हर्ष है कि जीवन के उसी समय से मैं जीवन के पीछे दौड़ा था, जीव के पीछे नहीं। इसीलिये शायद बच जाऊँगा। जीव के पीछे पड़नेवाला बड़े-बड़े मकान, राष्ट्र-चमत्कार और जादू से प्रभावित होकर जीवन से हाथ धोता है, जीवन के पीछे चलनेवाला जीवन के रहस्य से अनभिज्ञ नहीं होता, अस्तु।

मकतब की शिक्षा अर्थकरी समझकर मैंने छोड़ दी थी; तब 'अर्थ' का व्यापक अर्थ मुझे मालूम नहीं था। इसीलिये जड़ार्थ से मेरा हमेशा छत्तीस का संबंध रहा। लेकिन विशाल 'अर्थ' जिसके लिये, जिसे न जानकर भी, मैंने अर्थकरत्व छोड़ा था, मेरे विशाल-हृदय मित्रों से मुझे प्राप्त होता रहा। पर जब की बात लिख रहा हूँ, तब मैं उसी एस्टेट में एक मामूली नौकर हुआ। चिट्ठी-पत्री, हिसाब-किताब अच्छा नहीं लगता था। पर लाचारी थी, इसी समय राजा साहब को अपना थिएटर खोलने का शौक़ हुआ। बड़े आदमी की इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। कचहरी के बाबू नायक-नट बनने के लिये बुलाए गए। सबके साथ मैं भी गया। मुझे एक बहुत मामूली संस्कृत का गाना दिया गया, इसलिये कि बंगालियों में अधि-कांश संस्कृत का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। मैंने श्लोक याद कर रिहर्सल के दिन गाया। राजा साहब पर उसका बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने मेरे लिये गाना सीखने का प्रबंध कर दिया। धीरे-धीरे कला की कृपा से मेरी लोकप्रियता बढ़ चली,

साथ दूसरों की ईर्ष्या भी चली। इसी समय इनफ्लुएंजा का प्रकोप हुआ। पिताजी एक साल पहले गुज़र चुके थे। इसी-लिये नौकरी की थी। नहीं तो हर लड़के की तरह दुनिया को सुखमय देखते रहने के स्वप्न लिए रहता; कम-से-कम लिए रहूँगा, यही सोचता था।

तार आया—"तुम्हारी स्त्री सख्त बीमार है, अंतिम मुला-कात के लिये आओ।" मेरी उम्र तब बाईस साल थी। स्त्री का प्यार उसी समय मालूम दिया, जब वह स्त्रीत्व छोड़ने को थी। अखबारों से मृत्यु की भयंकरता मालूम हो चुकी थी। गंगा के किनारे आकर प्रत्यक्ष की। गंगा में लाशों का ही जैसे प्रवाह हो। ससुराल जाने पर मालूम हुआ, स्त्री गुज़र चुकी है; दादाज़ाद बड़े भाई देखने के लिये आकर बीमार होकर घर गए हैं। मैं दूसरे ही दिन घर के लिये रवाना हुआ। जाते हुए रास्ते में देखा, मेरे दादाज़ाद बड़े भाई साहब की लाश जा रही है। रास्ते में चक्कर आ गया। सिर पकड़कर बैठ गया। घर जाने पर भाभी बीमार पड़ी दिखीं। पूछा—"तुम्हारे दादा को कितनी दूर ले गए होंगे?" मैं चुप हो गया। उनके चार लड़के और एक दूध-पीती लड़की थी। उस समय बड़ा लड़का मेरे साथ रहता था, बंगाल में, पढ़ता था। घर में चाचाजी अभिभावक थे। भाई साहब की लाश निकलने के साथ चाचाजी भी बीमार पड़े। मुझे देखकर कहा—"तू यहाँ क्यों आया?" पारिवारिक स्नेह

का वह दृश्य कितना करुण और हृदयद्रावक था, क्या कहूँ ? स्त्री और दादा के वियोग के बाद हृदय पत्थर हो गया। रस का लेश न था। मैंने कहा—"आप अच्छे हो जायँ, तो सबको लेकर बंगाल चलूँ।" उतनी उम्र के बाद यह मेरा सेवा का पहला वक़्त था। तब से अब तक किसी-न-किसी रूप से फ़ुर्सत नहीं मिली। दादा के गुज़रने के तीसरे दिन भाभी गुज़रीं। उनकी दूधपीती लड़की बीमार थी। रात को उसे साथ लेकर सोया। बिल्ली रात-भर आफ़त किए रही। सुबह उसके प्राण निकल गए। नदी के किनारे उसे ले जाकर गाड़ा। फिर चाचाजी ने प्रयाण किया। गाड़ी गंगा को जैसे लाश ही ढोती रही। भाभी के तीन लड़के बीमार पड़े। किसी तरह सेवा-शुश्रूषा से अच्छे हुए। इस समय का अनुभव जीवन का विचित्र अनुभव है। देखते-देखते घर साफ़ हो गया। जितने उपार्जन और काम करनेवाले आदमी थे, साफ़ हो गए। चार लड़के दादा के, दो मेरे। दादा के सबसे बड़े लड़के की उम्र १५ साल, मेरी सबसे छोटी लड़की साल-भर की। चारों ओर अँधेरा नज़र आता था। घर से फ़ुर्सत पाने पर मैं ससुराल गया। इतने दुःख और वेदना के भीतर भी मन की विजय रही। रोज़ गंगा देखने जाया करता था। एक ऊँचे टीले पर बैठकर लाशों का दृश्य देखता था। मन की अवस्था बयान से बाहर। डलमऊ का अवधूत-टीला काफ़ी ऊँचा, मशहूर जगह है। वहाँ गंगाजी ने एक मोड़ ली है। लाशें इकट्ठी

थीं। उसी पर बैठकर घंटों वह दृश्य देखा करता था। कभी अवधूत की याद आती थी, कभी संसार की नश्वरता की।

एक दिन पूछ-पूछकर कुल्ली वहाँ पहुँचे। पहले दुखी थे, मेरे लिये समवेदना लिए हुए थे, देखकर मुस्किरा दिए—बड़ी निर्मल मुस्कान। मैंने देखा—यह सच्चा मित्र है। कुल्ली ने कहा—"मैं जानता हूँ, आप मनोहर को बहुत चाहते थे। ईश्वर चाह की ही जगह मार देता है, होश कराने के लिये। आप मुझसे ज्यादा समझदार हैं, और मैं आपको क्या समझाऊँ? पर यह निश्चित रूप से समझिएगा, भोग होता है, अच्छा वह है, जिसका अंत अच्छा हो।"

मैं अवधूत की कुटी की गड़ी ईंटें देख रहा था। कुल्ली ने कहा—"यहाँ आप क्यों आए हैं? क्योंकि मृत्यु का दृश्य आपने देखा है। मृत्यु के बाद मन शांति चाहता है। जो मर गए हैं, वे भी शांति प्राप्त कर चुके हैं। यह अवधूत-टीला है। बहुत पहले यहाँ एक अवधूत रहते थे। बस्ती से यह जगह कितनी दूर है। मरघट से भी दूर है, यानी अवधूत मृत्यु के बाद जैसे पहुँचे हों। यहाँ शांति-ही-शांति जैसे हो।"

कुल्ली की बात बड़ी भली मालूम दी। बड़ा सुंदर तत्त्व जैसे निहित था। मुझे बड़ा आश्वासन मिला। ऐसी बात इधर मैंने किसी से नहीं सुनी थी।

कुल्ली ने कहा—"चलिए, रामगिरि महाराज के मठ में दर्शन कीजिए। आप वहाँ हो तो आए होंगे?"

मैंने कहा—"नहीं।"

कुल्ली उठे। उनके साथ मैं भी चला गया।

इसके बाद मैं अपनी नौकरी पर चला गया। कुछ दिन नौकरी करने के बाद एक दुर्घटना हुई। एक साधु आए। एक पेड़ के नीचे बैठे रहते थे, धूनी रमाए, चिमटा गाड़े। मेरी निगाह नए ढंग की थी। साधु के संबंध में भी निगाह नई हो गई थी, स्वामी विवेकानंदजी और स्वामी रामतीर्थजी की बातें सुनकर, किताबें पढ़कर। साधु का संबंध पारलौकिक साधना से होता है, साधना प्राचीन ढंग की तरह-तरह की है। मैं बिलकुल आधुनिक था। आदमी सत्य की प्राप्ति के बाद समझने की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि सत्य स्वयं तब

समझ के तौर पर मिल जाता है। उस पर आधुनिकता और प्राचीनता के नाम का केवल प्रभाव पड़ता है। मैंने जिन साधुओं को पढ़ा था, उन्होंने नशे के खिलाफ़ बहुत कुछ लिखा था। पर जो साधु नशा करते हैं, वे रास्तों पर मारे-मारे फिरते हैं, स्वामी विवेकानंदजी या स्वामी रामतीर्थजी की तरह अँगरेजी-दाँ नहीं, न अँगरेजीदाँ उनके शिष्य हैं, जो गाँजे की चिलम से भड़क जायँगे। ऊँचे सत्य में विद्या की भी गुंजाइश नहीं रहती, शब्द खत्म हो जाता है, लिहाज़ा रास्तों पर घूमनेवाले थकान की प्रतिक्रिया मिटाने के लिये नशा करते हैं। जिस तरह रोग में ज़हर का प्रयोग चलता है, उसी तरह जीवन के नाश में प्रतिक्रिया में वे नशा करते हैं। उनके पास चरित्र का मूल्य है, पर उस चरित्र का अर्थ ऐसा नहीं कि आदमी सात रोज पाखाना न जाय, या पाँच रोज पेशाब न करे, तो सिद्ध है। अंगरेजीदाँ गृहस्थ अँगरेजीदाँ साधु ही खोजता है, क्योंकि योरप की, अमेरिका की बातें होनी चाहिए, इस पर उनकी क्या राय है। सत्य के पास योरप, अमेरिका नहीं। रास्तेवाले साधु यहाँ अँगरेजीदाँ साधुओं को ही धोखा देता हुआ समझते हैं। मैंने कइयों को कहते सुना है, अपना-अपना गढ़ बनाए हुए हैं। खैर, यह साधु अनेक अर्थों में साधु थे। इनकी इच्छा थी, जगन्नाथजी जायँगे, किराया मिल जाय। राजा साहब के हाउसहोल्ड सुपरिंटेंडेंट साहब इन पर प्रसन्न थे। उन्होंने राजा साहब से इनकी साधुता की तारीफ

करते हुए इनके किराए की प्रार्थना की। राजा साहब ने सुन लिया। कचहरी हो जाने पर शाम से दस बजे तक मैं राजा साहब के पास रहता था। उन्हें गाने-बजाने का शौक़ था। अच्छा मृदंग बजाते थे। जाने पर उन्होंने कहा—"एक साधु आए हैं; देख आओ।" राजा लोग एक विषय को अनेक मुखों से सुनते हैं, तब राय क़ायम करते हैं, इसलिये कि उनके कान-ही-कान हैं, आँखें सब जगह नहीं पहुँचतीं। मैंने राजभक्ति की परा काष्ठा दिखलाते हुए उसी वक़्त कहा—"हुज़ूर, राजकोष का रुपया इस तरह नहीं ख़र्च होना चाहिए।" तब मेरे मस्तिष्क में अनेक तरहें थीं, जैसी उपयोगितावादी में होती हैं। राजा साहब सिर्फ़ मुस्किराए। मैं कुछ नहीं समझा। लेकिन उनकी आज्ञा की उपयोगिता समझता था, क्योंकि नौकर था। प्रणाम करके साधु के पास चला। मन में यह निश्चय लिए हुए कि कोष की एक कौड़ी नहीं जानी चाहिए। मन में यह भाव होने के कारण साधु के प्रति रूप कैसा था, कहने की आवश्यकता नहीं। मुझे देखते ही साधु ने कहा—"आइए।"

मैंने मन में कहा—"यही तो ठग-विद्या है।" खुलकर कहा—"तुम काम क्यों नहीं करते?"

साधु ने मुझे आप कहा था, मैंने 'तुम' कहा, तब मुझे यह नहीं मालूम था—ईश्वर की प्राप्ति के लिये निकला हुआ मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति के बाद दग्ध-कर्म हो जाता है। उसके मन में केवल ईश्वर रहता है।

साधु ने कहा—"मैं 'आप' कहता हूँ, आप 'तुम' कहते हैं। मैं क्या काम करूँ ?"

मेरी 'आप' कहने की प्रवृत्ति नहीं हुई। मैंने कहा—"तुम्हें संसार में कोई काम ही नहीं मिलता ?"

साधु ने कहा—"आप फिर तुम कहते हैं। यह सब काम कौन करता है ?"

मुझे मालूम हुआ, यह पूरा ठग है। क्योंकि लिखी किताबों में साधुओं के हथकंडे और तरह-तरह की शिकायतें पढ़ी थीं। कहा—"तुम्हें रुपया नहीं मिलेगा।"

साधु ने कहा—"होश में आ।" और चिमटा जोर से जमीन में गाड़ दिया।

मुझे मालूम हुआ, वह चिमटा मेरे सिर में समा गया। गर्दन झुक गई। लेकिन मुझमें मामूली आग नहीं थी, न मेरा अभिप्राय असत्य था। फिर भी साधु के प्रति श्रद्धा न निकली।

साधु ने जैसे सिर पर सवार होकर पूछा—"तू राजा है ?"

जो अपराध मैं कर रहा था, वही साधु करने लगे, क्योंकि मैंने साधु को 'तू' नहीं कहा था, 'तुम' कहा था। पर अभी मैं अपने को सँभाल रहा था, जैसे लड़नेवाला नीचे चला गया हो, हार न खाई हो। सँभलकर कहा—"नहीं, मैं राजा नहीं हूँ।" साधु व्यंग्य कर रहा था, उसका राजा का अर्थ, राम, था; मेरा केवल सीधा, वही राजा, जहाँ से मैं आया था।

साधु ने कहा—"तू नौकर है, तो नौकर की तरह बातें क्यों नहीं करता ?"

साधु फिर भूला। नौकर भी राम है। खास तौर से मैं महावीर को अधिक प्यार करता था, राम को कम।

साधु चाहता था, मैं अपनी पकड़ छोड़ दूँ, तो वह होश दे दे, लेकिन मेरी पकड़ में नौकर नहीं था, साक्षात् महावीर थे। पकड़ छुड़ाने के लिये साधु ने कहा—"तेरी नौकरी नहीं रहेगी।"

अगर मैं यहाँ करुण हुआ होता, तो साधु ने बाजी मारी होती। मैंने कहा—"महाराज, तब तो मैं बच जाऊँ।" यह महावीर की ही वाणी थी, राम के प्रति। तब मैं यह कुछ नहीं जानता था।

साधु के होश उड़ गए। यह नौकरी के लिये आग्रह नहीं था। फिर मेरे सिर उतने बच्चों का बोझ था।

साधु रोने लगे, कहा—"अरे, तेरे लिये मैंने घर-बार छोड़ दिया, और तू मुझे सताता फिरता है।" अब मैं भी समझा। मुझे ज्योति भी दिखी। पहले 'जुही की कली' लिखते वक्त दिखी थी, तब नहीं समझा था। अब के एक साधु ने पहचान करा दी।

मैं चलने लगा, तो साधु ने कहा—"तो चलो, चलें।" लेकिन मैंने संसार की तरफ खींचा, क्योंकि ज्ञान के साथ कर्मकांड जो बाक़ी था, उसकी ओर आकर्षण हुआ। इस समय साधु को वैसा ही कष्ट हुआ, जैसा मुझे हुआ था। बड़ी ही करुण ध्वनि की, जैसे बदन टूट रहा हो।

राजा साहब के पास गया, तब सब भूल गया, जड़ राजा का भूत सवार हो गया। राजा साहब ने पूछा—"कैसे साधु हैं?" मैंने कहा—"ऐसे आदमी को रुपए नहीं देने चाहिए।" राजा साहब चुप हो गए।

सुबह सुपरिंटेंडट साहब फिर गए, और बीस रुपए की मंजूरी करा ली। रुपए लेकर सुपरिंटेंडट साहब गए। पर हाथ जो बढ़े, वे दंभ के हाथ थे। साधु ने कहा—"मैं रुपए नहीं लूँगा। कल राजा आए थे। मैंने उन्हें नाराज कर दिया है। मैं जाता हूँ।" कहकर अपना चिमटा वहीं फेंक दिया, और चले गए।

सुपरिंटेंडट साहब ने रास्ता रोककर कहा—"महाराज, वह राजा नहीं था, वह तो एक मामूली नौकर है।"

साधुने कहा—"तू नहीं समझता, वह राजा था।"

सुपरिंटेंडट साहब मुँह फैलाकर देखने लगे। साधु चले गए।

कुछ देर बाद मैं भी उस रास्ते से गुजरा। सुपरिंटेंडेन्ट साहब ने कहा—"तुमने कल साधु से क्या कहा था—मैं राजा हूँ?"

"नहीं, दादा", मैंने कहा—"मैंने ऐसा तो नहीं कहा।"

सुपरिंटेंडट मुझसे भी बड़े राजभक्त थे। कहा—"तुमने कहा है। साधु ने रुपए नहीं लिए, अपना चिमटा फेककर चला गया है। मैं महाराज से अभी रपोट करता हूँ।" कौन समझता है, वह निश्छल नत जन विश्व के सामने नत है—

वह दादा कहनेवाला और है। यह सलाम करनेवाला नहीं।

दादा ने राजा साहब से रपोट की, बड़े उदात्त शब्दों में। सुनी बात पर जैसी अतिशयोक्ति होती है।

मेरे जाने पर सस्नेह राजा साहब ने कहा—"तुमने साधु से कहा था—मैं राजा हूँ?"

उत्तर उस तरह मुझसे न देते बना' जिस तरह देना चाहिए था, क्योंकि मैं भी राजा को साक्षात् पुरुषोत्तम नहीं देख रहा था। कहा—"हाँ, मैंने कहा, राजा का नौकर राजा नहीं तो क्या है?"

यह अद्वैतवाद राजा समझते थे। भारत की नौकरशाही का यही अर्थ है।

उस समय के लिये निष्कृति मिली। कठिन संसार की उलझन साथ ही थी। एक दिन मैं राजा साहब के यहाँ से अपने डेरे जा रहा था, रात के ग्यारह बजे होंगे। सुपरिंटेंडेंट साहब कचहरी नहीं गए थे। लेकिन हाथीखाने के पास, जो जगह उनके मकान से मील-भर है, मुझे मिले। वह शराब पीते हैं, यह मशहूर बात थी, शराब पीनेवाला और भी बहुत कुछ करता है। संसार का अपना एक चरित्र है, दिखाऊ। उसके प्रतिकूल कुछ होने पर घबराहट होती है। सुपरिंटेंडेंट साहब को रात ग्यारह बजे देखने के साथ मैं चौंका, वह भी चौंके—वह मेरी शिकायत कर चुके थे, इसलिये भी। मैं चौंका, वह यहाँ

इतनी रात को क्या कर रहे हैं। चौंकाचौंकी के साथ मुझे शराब की बू मालूम दी। पर मैं चुपचाप चला गया।

दूसरे दिन कथा-प्रसंग पर मैंने राजा साहब से कह दिया, पर शिकायत के तौर पर नहीं, मज़ाक़ के तौर पर। सुपरिंटेंडेंट साहब पीते हैं, यह सब लोग जानते थे, राजा साहब और बहुत जानते थे। हँसने लगे।

पर बड़े आदमी कहलानेवाले लोग अपने मातहत रहने-वालों या नौकरों से तरह-तरह से पेश आते हैं। एक दिन एका-एक मुझे हुक्म हुआ—'गोपालजी के मंदिर में जाकर कसम खाकर कहो—"तुमने सुपरिंटेंडेंट साहब को शराब की हालत में देखा है।" सुपरिंटेंडेंट साहब को हुक्म हुआ—"तुम कहो, मैंने नहीं पी।"

सुपरिंटेंडेंट साहब संसारी आदमी थे। एक गवाह ठीक कर लिया था—फ़ीलबान, यह कहने के लिये कि सुपरिंटेंडेंट साहब के लड़के को भूत लगा था, वह फूँक डालने गया था। उसे हुक्म हुआ, वह क़ुरान लेकर कहे।

कसम के दिन फ़ीलवान नहीं गया। हम दोनो गए। मैंने जैसी सुगंध पाई थी, उसके लिये कसम खाई। सुपरिंटेंडेंट साहब बिलकुल इकार गए।

कसमीकसमा हो जाने के बाद मैंने इस्तीफ़ा दाख़िल किया। राजा साहब को एक निजी पत्र लिखा—"मेरे धर्मस्थल पर हस्तक्षेप करने का आपको कोई अधिकार न था। फिर मैंने

सुपरिंटेंडेंट साहब की नौकरी लेने के लिये नहीं कहा था।" सुपरिंटेंडेंट साहब ने उन्हें यही समझाया था कि उस साधु के संबंध में चूँकि उन्होंने सही-सही बातें कही हैं, इसलिये उनकी नौकरी लेने के अभिप्राय से मैंने यह जाल रचा है। अब जब से हुज़ूर ने वह सब काम छोड़ दिया है, तब से हुज़ूर की बराबर अनुवर्तिता वह कर रहे हैं, इसीलिये हुज़ूर से गुरुमंत्र लेने की बात भी कही थी। गुरुमंत्र का प्रभाव होता ही है।

मेरा इस्तीफ़ा मंज़ूर न किया गया। राजा साहब की चिट्ठी आई—"यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।" मैंने कहा—'अध्रुव की ही सेवा सही, मेरी तनख़्वाह दे दी जाय, मेरा काम समझ लिया जाय।

नौकरी छोड़ दी। कई लोग, यहाँ तक कि असिस्टेंट मैनेजर साहब, जिन पर रोज़ रिश्वत का इलज़ाम लगता था, मिलने पर कह गए—यहाँ तुम्हीं एक आदमी हो। बहुतों ने झुकी कमर सीधी कर-करके देखा। मैंने अपनी चीजें नीलाम करके एक भतीजे को साथ लेकर गाँव का रास्ता लिया।

गाँव पहुँचकर ससुराल गया। देश में पहला असहयोग-आंदोलन ज़ोरों पर था। खलिहानों में बैठे हुए किसान ज़मींदारों से बचने के लिये रह-रहकर 'महात्मा गांधीजी की जय' चिल्ला उठते थे। कुछ अति आधुनिक सरकारी नौकर, ज़मींदार और पुलिस के आदमी मज़ाक़ करते थे—तरह-तरह के अपशब्द। कुछ अकर्मण्य मालदार राजनीतिक विद्वान्

अखबारों का उलथा कर-कर टीका-टिप्पणी के साथ समाज में चर्चा करते हुए पाचन-शक्ति बढ़ा रहे थे। ऐसे ही एक ने मुझसे कहा—"महात्माजी ने सिद्ध कर दिया है, चर्खा चलाने से कम-से-कम रोटियाँ चल सकती हैं।"

मैं बेकार था। 'सरस्वती' से कविता-लेख वापस आते थे। एक-आध चीज़ छपी थी। 'प्रभा' में, मालूम हुआ, बड़े-बड़े आदमियों के लेख-कविताएँ छपती हैं। एक दफ़ा आफ़िस जाकर बातचीत की, उत्तर मिला, इसमें 'भारतीय आत्मा, 'राष्ट्रीय पथिक', मैथिलीशरण गुप्त-जैसे कवियों की कविताएँ छपती हैं। ऐसे ही कुछ लेखकों के नाम सुने। मुँह लटकाकर लौट आया। जीविका का कोई उपाय न था। चार भतीजों की परवरिश सिर पर। जिस सज्जन ने चर्खे की उपयोगिता समझाई थी, उन्हें एक तकुआ ख़रीद लाने के लिये पैसे दिए थे, वह कानपुर गए थे। यहाँ मेरे गाँव के पड़ोस में कोरी बुनाई का काम करते हैं, मैं सीखने के लिये रोज़ जाने लगा। कोरियों ने कहा—"तुम महाराज होकर क्या यह काम करोगे? अरे, कहीं भागवत बाँचो।" वह सज्जन कानपुर से लौटे, बोले—"जल्दी में था, ख़रीदने की याद नहीं थी।"

मन में अत्यधिक उथल-पुथल थी। इसी समय कन्यादाय-ग्रस्त भी आ-आकर घेरते थे। वर्णना में किसी की कन्या इंदिरा से कम न थी। बड़ा गुस्सा आया। ससुराल चला गया। कन्यादायग्रस्तों की संख्या वहाँ और अधिक दिखी।

एक दिन गंगा के किनारे बैठा था। टहलते हुए कुल्ली आए। समय का प्रभाव कुल्ली पर बहुत पड़ा था। चेहरे सभ्य राजनीतिक हो गए थे। मुझे देखकर उसी ढंग से नमस्कार किया। पहले की अदालतवाली सभ्यता अब राजनीतिक सभ्यता में बदली है, मैंने देखा। मैं बैठा था। कुल्ली ने सोचा, मैं कोई महान् राजनीतिक कर्मी हूँ। इधर कुल्ली अखबार पढ़ने लगे थे। त्याग भी किया था, अदालत के स्टांप बेचते थे, बेचना छोड़ दिया था। महात्माजी की बातें करने लगे। मैं सुनता रहा। जब कुछ पूछते थे, तब जितना जानता था, कहता था। एकाएक भाव में उमड़कर कुल्ली ने कहा—"मुझे कुछ उपदेश दीजिए।" मैं जला हुआ था ही। कहा—"गंगा में डूब जाइए।"

"यह आप क्या कह रहे हैं?" पूरे राजनीतिक आश्चर्य में आकर पूछा।

"आप डूब सकते हैं या नहीं?"

"डूब कैसे जाऊँ? कोई मतलब की बात भी हो?"

"मतलब की बात मुझे नहीं आती।"

"तो आप बेमतलब यहाँ बैठे हुए हैं?"

"हाँ, इतना ही मतलब था। आपसे मिलने के मतलब से तो नहीं आया था?"

कुल्ली मेरी ओर देखते रहे। उन्हें नहीं मालूम था, इनके चारों ओर आग लगी है। चुपचाप उठकर चले गए।

अनेक आवर्तन-विवर्तन के बाद मैं पूर्ण रूप से साहित्यिक हुआ। कुछ ही दिनों में कविता-क्षेत्र में जैसे चूहे लग जायँ, इस तरह कवि-किसानों और जनता-जमींदारों में मेरा नाम फैला। साल ही भर में इलाहाबाद के श्रीहर्ष और कलकत्ते के कालिदास हिंदी के काव्य का उद्धार करने के लिये आ गए, एक ही समय में। पुराने स्कूलवालों ने अपनी मोर्चाबंदी की और लड़ाई छेड़ दी। पर हार-पर-हार खाते गए; कारण, बुद्धि की बारूद नहीं थी। एयरमन की फुट्टफैर होकर रह गई। इस तरह अब तक अनेक लड़ाइयाँ हुईं। पर नए लड़नेवालों से लड़ने पर पुराने

बराबर हारे हैं। अस्तु, हिंदी के काव्य-साहित्य का उद्धार और साहित्यिकों के आश्चर्य का पुरस्कार लेकर मैं गाँव आया। गाँव से ससुराल गया। कुल्ली मिले। अखबार पढ़ते थे। अखबारों में मेरा नाम, आलोचना आदि में, पढ़ चुके थे जाने पर बड़ी आव-भगत उन्होंने की। एकटक देखते रहे। अब उनका वह प्रियजन विकास पर है। इस बार अपने घर के जितने कवियों की चर्चा की, सबको उतारकर, क्योंकि अखबारों में उनकी वैसी आलोचना नहीं छपती थी, फिर वे राजा के आश्रित थे।

कुल्ली ने मुझे देखते हुए आवेग से पूछा—"आपने दूसरी शादी नहीं की ?"

मैंने कहा—"करने की आवश्यकता नहीं मालूम दी।"

पूछा—"रहते किस तरह हैं ?"

उत्तर दिया—"एक विधवा जिस तरह रहती है।"

कुल्ली—"विधवाएँ तो तरह-तरह के व्यभिचार करती हैं।"

मैं—"तो मैं भी करता हूँगा।"

कुल्ली बहुत खुश हुए। कहा—"लेकिन पाप होता है।"

मैं—"पुण्य के साथ-साथ पाप हो, तो डर नहीं। कहा है—एक अंगारा पहाड़-भर भूसा जला सकता है।"

कुल्ली जमे। पूछा—"समाज के लिये आपके क्या विचार हैं ?"

"जो कुछ मैं कह गया", मैंने कहा—"इसी का नाम समाज

है। जो कुछ बहता है, उसमें हमेशा एक-सा जलत्व नहीं रहता।"

"आप हिंदू-मुसलमान के संबंध में क्या कहते हैं?"

मैं—"हिंदू मुसलमान बन सकता है, मुसलमान हिंदू नहीं।"

कुल्ली बहुत खुश हुए। उनके दिल की बात थी। उनका इतिहास मुझे मालूम न था, लेकिन वह अपने जीवन के अनुभव और सत्य को मुझसे मिला रहे थे। पूरा उतरता देखकर कहा—"एक मुसलमानिन है। मैं उससे प्रेम करता हूँ। वह भी मेरे लिये जान देती है। ले चलने को कहती है, पर यहाँ के चमारों से डरता हूँ।"

मैंने कहा—"चमारों से सभी डरते हैं, लेकिन जूते गाँठने के लिये देते रहने पर दबे रहते हैं चमार।"

"तो आपकी राय है, ले आऊँ?"

मैं कलकत्ते का हिंदू-मुस्लिम दंगा देख चुका था। उन दिनों अखबारों में यही चर्चा थी—बाजे के प्रश्नोत्तर चल रहे थे। इसी पर मुंशी नवजादिकलाल साहब महादेव बाबू को चार महीने की सख्त सजा दिला चुके थे। छूटने पर मैं स्वागत करा चुका था। समय का रंग सब पर रहता है, लड़कपन हो, जवानी। मैंने पूरी उत्तेजना से कहा—"अवश्य ले आओ।"

कुल्ली में जैसे स्वर्गीय स्पिरिट आ गई। उदात्त स्वर से बोले—"ये हिंदू नामर्द हो गए हैं। दूसरे को भी नामर्द करना चाहते हैं।"

"आप इनके सामने आदर्श रखिए।" मैंने कहा।

कुल्ली झटके से उठे, उसी वक़्त आदर्श रखने के विचार से, और सीधे उसी प्रिया के घर गए, उसे ले आने के लिये।

इन दिनों मैं लखनऊ रहने लगा था। सविनय-अवज्ञा-आंदोलन समाप्त हो चुका था। अछूतोद्धार की समस्या थी। इसी समय दलमऊ गया। कुल्ली की पूर्ण परिणति थी। राज-नीति और सुधार दोनो के पूर्ण रूप थे। आंदोलन का केंद्र रायबरेली था, तब कुल्ली काफी भाग ले चुके थे। पहले नमक-क़ानून दलमऊ में तोड़ा जानेवाला था, तब कुल्ली ने ही ख़बर दी थी कि पुलिस गोली चलाने की तैयारी में है। तब कार्यकर्ता दलमऊ से हटकर रायबरेली चले गए थे; ताकि पुलिस को तकलीफ न हो। अदालत जानेवाले वकीलों, पुलिस

के नौकरों, सरकारी अफ़सरों, पंडों, पुरोहितों, ज़मींदारों और ताल्लुक़ेदारों से घृणा करने लगे थे। प्रसंग-वश ब्राह्मणों से भी घृणा करने लगे थे।

कुल्ली एक अच्छे-ख़ासे नेता की तरह मिले। मिलते ही पूछा—"आपके उधर कैसा कार्य है?"

मैंने ताज्जुब से पूछा—"कौन-सा कार्य?"

"यही, जो चल रहा है।" कुल्ली ने भी आश्चर्य से मुझे देखते हुए कहा।

"राजनीतिक?" मैंने सीधे-सीधे पूछा।

"हाँ, यही आंदोलनवाला।" कुल्ली कुछ कटे हुए बोले।

"अब तो समाप्त है।"

"इससे कुछ होगा?"

"किससे, क्या होता है, क्या मिलता है, क्या जाता है, यह मैं नहीं जानता, इसलिये मानता भी नहीं; कुछ मेरी भी सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बातें हैं, किया करता हूँ, उन्हीं में कुछ नमक-मिर्च अपनी समझ से मिलाकर।"

कुल्ली ख़ुश हो गए। एक भेड़ बनता है, तो दूसरा भेड़िया बनने का हौसला दबा नहीं सकता। इसीलिये अब तक दीनता और दीन की ही संसार के लोगों ने ऊँचे स्वर से तारीफ़ की है। मैं साधारण आदमी हूँ, इसने कुल्ली को असाधारणता का बोध तत्काल करा दिया। मुझसे कहा—"मैं उसे ले आया।"

"किसे?"

"उसी मुसलमानिन को।"

"तब तो मेरी पहली बात तुमने मान ली। मैंने कहा था, तुम गंगा में कूद पड़ो, तुम मुझे लाँग समेटे हुए ही उस वक्त देख पड़े थे।"

कुल्ली ने आश्चर्य से कहा—"गंगा में कैसे कूदा ?"

"किताब में स्त्री को नदी कहा है। नदियों में गंगा श्रेष्ठ हैं। तुम श्रेष्ठ स्त्री ले आए हो।"

कुल्ली प्रसन्न हो गए। बोले—"लेकिन एक बात है; यहाँवाले मानते नहीं।"

"जब जानेंगे, तब मानेंगे।" मैंने कुल्ली की छड़ी देखते हुए कहा—"किसी को यह संशय नहीं कि यह छड़ी नहीं।"

कुल्ली ने भी अपनी छड़ी देखी, और मुस्किराकर कहा—"लोग सताते हैं। पथवारी-देवी के दर्शनों के लिये भेजा था, लोगों ने मंदिर के दरवाजे पर भी नहीं जाने दिया।"

"तुम्हें समझता था, देवीजी ने कृपा की, ज्ञान दिया, क्योंकि वह मंदिरवाली नहीं थीं, पथवाली थीं।"

"अच्छा!" कुल्ली बहुत खुश हुए, कहा—"इसलिये पथवारी कहते हैं!" नम्र होकर बोले—"मेरा नाम भी पथवारीदीन है।"

"तब ?" मैंने कहा—"और पथवाली देवी उसे क्या देतीं ?"

"आप बहुत-बहुत बड़े ज्ञानी हैं," कुल्ली ने हाथ जोड़कर

मुँह के सामने हाथी की सूँड़ उठाई। मैंने मन में कहा, देखो, अब कौन ज्ञानी है।

"देखो कुल्ली", मैंने कहा—"गणेशजी जितने ज्ञानी हैं, मैंने सुना है, उतने ही मूर्ख हैं। बंगाल में हस्तिमूर्ख कहते हैं, यानी हाथी की तरह का मूर्ख, इससे बड़ा मूर्ख दूसरा नहीं। एक दफ़ा मेरे एक दोस्त जंगल में शिकार खेलने गए थे। एक शेर मारा। मारकर पत्तों से ढककर उसे नीचे डालकर फिर मचान पर जा बैठे कि एक-आध हिरन आ जाय, तो मारकर खाने का भी इंतज़ाम कर लें। इत्तिफ़ाक़ आया हाथियों का झुंड। जंगली हाथी सबसे ख़तरनाक है। क्योंकि वह हिलाकर पेड़ से भी आदमी को कैथ की तरह गिरा लेता है, या डाल तोड़कर नीचे लाता है। मेरे मित्र पक्के शिकारी थे। उन्हें यह सब मालूम था। मचान कुछ ऊँचा था। हाथियों के नायक के सूँड़ बढ़ाते ही उन्होंने अपनी बंदूक़ नीचे डाल दी, ठीक उसी जगह' जहाँ शेर मारा ढका था। हाथी बंदूक़ लेकर तोड़ने लगा। तब तक मेरे मित्र और ऊँची डाल पर चले गए। बंदूक़ तोड़कर पत्तों से ढकी चीज़ को देखने की उत्सुकता से हाथी ने सूँड़ बढ़ाई। पत्ते खोलते ही शेर दिखा। हाथी बेतहाशा भगा, उसके साथी भी भगे। मित्र बच गए, यद्यपि यह एक संयोग की बात थी, पर इसमें शिक्षा की कमी नहीं। जहाँ हाथी सताते हों, वहाँ शेर की खाल काम देती है। बुद्धि इसीलिये सबसे ऊपर है।"

कुल्ली समझ गए कि कहनेवाला और जो कुछ हो, बेवक़ूफ़ नहीं, बोले—"अछूत-पाठशाला खोली है। तीस-चालीस लड़के आते हैं, धोबी, भंगी, चमार, डोम और पासियों के। पढ़ाता हूँ। लेकिन यहाँ के बड़े आदमी कहे जानेवाले लोग मदद नहीं करते। यहाँ के चेयरमैन साहब के पास गया, वह ज़बान से नहीं बोले, हालाँकि शहर के आदमी हैं। टाउन-एरिया में सिर्फ़ कुछ घर हैं। बाक़ी गंगापुत्रों की बस्ती है। ये लोग उदासीन हैं। कुछ सरकारी अफ़सर हैं, वे भड़काया करते हैं। कैसे काम चले? मदद कहीं से नहीं मिलती। जो काम करता था, आंदोलन में छोड़ दिया। अब देखता हूँ, उसी गधे पर फिर चढ़ना होगा।"

मैंने सोचा—"यह कार्य की बात है, रस की नहीं। जिन्हें कार्य करना है, वे अपना रास्ता खोज लेंगे। ज़रा कुल्ली से एक चोट क़सकर मज़ाक़ क्यों न किया जाय। जहाँ तक रस मिले, पान करना चाहिए; आर्यों की संतान हूँ, सोमरस के अभाव में ताड़ी का प्रयोग प्रशस्त है, काका कालेलकर साहब ने समझा दिया है। प्रकृति को पर्दे में रखना दुनिया के आदमियों का काम है। जिन्हें कहीं खुला नज़र आएगा, आप रुकेंगे।"

खुलकर, पूरे एमोशन के साथ कहा—"महात्माजी को लिखिए।"

कुल्ली में इतना उच्छ्वास आया, जैसे उनकी अर्ज़ी मंज़ूर

हो। पूछा—"महात्माजी का पता क्या है ?" मैंने पता बतला दिया।

नोटबुक निकालकर कुल्ली नोट करते रहे। फिर सिर उठाकर मुझसे पूछा—"महात्माजी के अलावा और भी किसी को लिखना चाहिए ?"—जैसे न्योता भेज रहे हों।

"हाँ," मैंने कहा—"पं० जवाहरलाल नेहरू को।"

फिर सिर झुकाकर लिखते हुए पूछा—"आनंद-भवन, इलाहाबाद ?"

"या स्वराज्य-भवन, इलाहाबाद।" मैंने कहा।

कुल्ली ने लिख लिया। फिर निश्चिंत होकर जैसे मुझसे कहा—"एक रोज़ हमारे वहाँ चलिए; आपको सब कुछ दिखाऊँ; अपनी भौजी को भी देखिए।"

"साँवली हैं—गोरी ?" मैंने जल्द उत्तर पाने की ग़रज़ से पूछा।

कुल्ली मुस्कराए। कहा—"अपनी आँखों देखिए।"

"कुछ योग्यता ?" मैंने बिलकुल आधुनिक फ़ैशन के आदमी की तरह पूछा।

कुल्ली गंभीर होकर बोले—"बहुत अच्छा रामायण पढ़ती हैं। अभी गई थीं—" राजा साहब या रानी साहब, शिवगढ़, या किसे, कहा, पढ़कर सुनाई; उन्हें बहुत ख़ुशी हुई।

पूछना चाहता था, सिर्फ़ ख़ुशी रही या बख़्शिश भी मिली; लेकिन स्त्री और सभ्यता का विचारकर रह गया।

कुल्ली ने पूछा—"तो पाठशाला देखने कब आइएगा ?"

अछूतों का मामला यहाँ चालाकी नहीं चलेगी, सोचकर मैंने कहा—"जब आप कहें, आऊँ। मैं समझता हूँ, परसों ठीक होगा, क्योंकि आप लड़कों को ख़बर भेज दे सकेंगे; उस रोज़ अधिक-से-अधिक लड़के हाज़िर हो सकेंगे।"

नमस्कार कर कुल्ली बिदा हुए।

मैं श्रीमती मुखोपाध्याय के यहाँ गया। ये स्त्रियों की चिकित्सा, प्रसव आदि के लिये ख़ास तौर से नियुक्त सरकारी डाक्टर थीं। इनके पति मुखोपाध्याय महाशय उस समय बंगाल से आकर वहीं रहते थे। श्रीमती मुखोपाध्याय उनकी दूसरी या तीसरी पत्नी थीं। ईश्वर की कृपा से उनके एक पुत्र और सात-आठ कन्याएँ थीं। जब कन्याओं को लेकर गंगा नहाने जाती थीं, तब देखनेवाले को 'व्वायज़ टु लिलिपट' याद आ जाता था। मुखोपाध्याय महाशय संदिग्ध-स्वभाव आदमी थे। कोई भी सरकारी अफ़सर लेडी डाक्टर से मिलने जाता था, तो वह संदेह करने लगते थे, पति-पत्नी में अक्सर तकरार चलती थी, पर वृद्ध मुखोपाध्याय मुश्किल से एक रात पूरी उतार सकते थे। मनचले आदमी समझ गए थे, इसलिये सबेरे ही कोई-न-कोई पहुँचते थे। मेरी-उनकी इस तरह जान-पहचान हुई कि मेरे एक सम्मान्य मित्र के यहाँ वह जाया करते थे। मित्र कान्यकुब्ज हैं, साथ सुप्रसिद्ध। यह मुखोपाध्याय महाशय को उतना ही श्रद्धा-

मानते थे, जितना बड़ा कलकत्ता-बंबईवाले हिंदुस्तानियों को मानते हैं। मुखोपाध्याय महाशय दुखी होते थे। एक दिन मैंने यह दृश्य देखा, तो आमंत्रित करके इन्हें खिलाया। तब से इनके वहाँ कभी-कभी जाया करता था। मवेशी-डॉक्टर भी बंगाली थे। वहाँ प्रायः रोज़ जाते थे। मुसलमान सब-तहसीलदार साहब भी जाते थे। मैंने कुल्ली के संबंध में पूछा, तो सबको नाखुश पाया। कहा—"यह इतना अच्छा काम कर रहे हैं, आप इनसे सहानुभूति क्यों नहीं रखते ?" लोगों ने कहा—"अछूत-लड़कों को पढ़ाता है, इसलिये कि उसका एक दल हो; लोगों से सहानुभूति इसलिये नहीं पाता; हेकड़ी है; फिर मूर्ख है, वह क्या पढ़ाएगा ?—तीन किताबें भले पढ़ा दे। ये जितने कांग्रेसवाले हैं; अधिकांश में मूर्ख और गँवार। फिर कुल्ली सबसे आगे है। खुल्लमखुल्ला मुसलमानिन बैठाए है। उसे शुद्ध किया है, कहता है' अयोध्याजी जाने कहाँ ले जाकर गुरुमंत्र भी दिला आया है। पर आदमो आदमी हैं, जनाब, जानवर थोड़े ही हैं ? कान फुँकाने से विद्वान्, शिक्षक और सुधारक होता है ? देखो तो, बीबी तुलसी की माला डाले हैं। दुनिया का ढोंग।"

तीसरे दिन कुल्ली आए। बड़े आदर से ले गए। देखा, गड्ढे के किनारे, ऊँची जगह पर, मकान के सामने एक चौकोर जगह है। कुछ पेड़ हैं। गड्ढे के चारो ओर के पेड़ लहरा रहे हैं। कुल्ली के कुटी-नुमा बँगले के सामने टाट बिछा है। उस

पर अछूत-लड़के श्रद्धा की मूर्ति बने बैठे हैं। आँखों से निर्मल रश्मि निकल रही है। कुल्ली आनंद की मूर्ति, साक्षात् आचार्य। काफ़ी लड़के। मुझे देखकर सम्मान-प्रदर्शन करते हुए नतशिर अपने-अपने पाठ में रत हैं। बिलकुल प्राचीन तपोवन का दृश्य। इनके कुछ अभिभावक भी आए हैं। दोनों में फूल लिए हुए, मुझे भेंट करने के लिये। इनको ओर कभी किसी ने नहीं देखा। ये पुश्त-दर-पुश्त से सम्मान देकर नत-मस्तक ही संसार से चले गए हैं। संसार की सभ्यता के इतिहास में इनका स्थान नहीं। ये नहीं कह सकते, हमारे पूर्वज कश्यप, भरद्वाज, कपिल, कणाद थे; रामायण, महाभारत इनकी कृतियाँ हैं; अर्थशास्त्र, कामसूत्र इन्होंने लिखे हैं; अशोक, विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन, पृथ्वीराज इनके वंश के हैं। फिर भी ये थे और हैं।

अधिक न सोच सका। मालूम दिया, जो कुछ पढ़ा है, कुछ नहीं; जो कुछ किया है; व्यर्थ है; जो कुछ सोचा है, स्वप्न। कुल्ली धन्य है। वह मनुष्य है, इतने जंबुकों में वह सिंह है। वह अधिक पढ़ा-लिखा नहीं; लेकिन अधिक पढ़ा-लिखा कोई उससे बड़ा नहीं। उसने जो कुछ किया है, सत्य समझकर। मुख-मुख पर इसकी छाप लगी हुई है। ये इतने दीन दूसरे के द्वार पर क्यों नहीं देख पड़ते? मैं बार-बार आँसू रोक रहा था। इसी समय बिना स्तव के, बिना मंत्र के, बिना वाद्य, बिना गीत के, बिना बनाव, बिना सिंगारवाले वे चमार, पासी, धोबी और कोरी दोने में फूल लिए हुए मेरे सामने आ-आकर

रखने लगे। मारे डर के हाथ पर नहीं दे रहे थे कि कहीं छू जाने पर मुझे नहाना होगा। इतने नत। इतना अधम बनाया है मेरे समाज ने उन्हें। कुल्ली ने उन्हें समझाया है, मैं उनका आदमी हूँ, उनकी भलाई चाहता हूँ, उन्हें उसी निगाह से देखता हूँ, जिससे दूसरे को। उन्हें इतना ही आनंद विह्वल किए हुए है। बिना वाणी की वह वाणी, बिना शिक्षा की वह संस्कृति, प्राण का पर्दा-पर्दा पार कर गई। लज्जा से मैं वहीं गड़ गया। वह दृष्टि इतनी साफ़ है कि सब कुछ देखती-समझती है। वहाँ चालाकी नहीं चलती। ओफ़्! कितना मोह है! मैं ईश्वर, सौंदर्य, वैभव और विलास का कवि हूँ!—फिर क्रांतिकारी!!'

संयत होकर मैंने कहा—"आप लोग अपना-अपना दोना मेरे हाथ में दीजिए, और मुझे उसी तरह भेंटिए, जैसे मेरे भाई भेंटते हैं। बुलाने के साथ मुस्किराकर वे बढ़े। वे हर बात में मेरे समकक्ष हैं, जानते हैं; घृणा से दूर हैं। वह भेद मिटते ही आदमी-आदमी मन और आत्मा से मिले, शरीर की बाधा न रही।

इस रोज़ मैं और कुछ नहीं कर सका, देखकर चला आया, कुछ लड़कों से कुछ पूछ कर।

दूसरे रोज़ कुल्ली आए । नमस्कार-प्रणाम आदि के बाद बैठे। कहने लगे—"अछूत-पाठशाला खोलने के बाद से लोगों की रही साहानुभूति भी जाती रही। क्या कहूँ, आदमी आदमी के लिये ज़रा भी सहनशील नहीं । वह अपने लिये सब कुछ चाहता है, पर दूसरे को ज़रा भी स्वतंत्रता नहीं देना चाहता। इसीलिये हिंदोस्तान की यह दशा है, मैं समझ गया हूँ।

मैंने कहा—"कुछ सरकारी अफ़सरों से मेरी मुलाक़ात हुई थी। वे आपसे नाराज़ हैं, इसलिये कि आप यह सब करते हैं। शायद आपसे उन्हें इज़्ज़त नहीं मिलती। वे नौकर होकर

सरकार हैं, यह सोचते हैं ; आप उन्हें याद दिला देते हैं, वे नौकर हैं ; उन्हें रोटियाँ आपसे मिलती हैं।"

कुल्ली हँसे। कहा—"और भी बातें हैं। भीतरी रहस्य का मैं जानकार हूँ,। क्योंकि यहीं का रहनेवाला हूँ। भंडा फोड़ देता हूँ। इसलिये सब चौंके रहते हैं। वह मेम है, सरकार की तरफ़ से नौकर है, लेकिन बच्चा होआने जाती है, तो रुपया लेती है और एक की जगह दस-दस ; मैंने एक धोबिन को कहा, बुलाए और रुपया न दे, ज्यादा बातचीत करे, तो देखा जायगा। धोबिन ने ऐसा ही किया। मेम साहब नाराज हो गई। यही हाल मवेशी-डॉक्टर का है। मुसलमान इसलिये नाराज हैं कि मुसलमानिन ले आया हूँ, अरे भई, तुम्हीं गाते हो—दिल ही तो है न संगोख़िश्त दर्द स भर न आए क्यों ? फिर नाराज़ क्यों होते हो ? क्या यह भी कहीं लिखा है कि दिल सिर्फ़ मुसलमान के होता है ? और हिंदू, हिंदू है बुज़दिल, ख़ास तौर से ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया बेचारा क्या करे—इस कोठे का धान उस कोठे करे, उसे फ़ुर्सत नहीं, उसके लिये ये सब समझ से बाहर की बातें हैं, क्योंकि रुपए-पैसे की नहीं। आख़िर क्या करूँ ? आदमी हूँ, अदमियों में ही रहना चाहता हूँ।"

मैंने कहा—"आपकी गंगा जिस तरह पवित्र करती हुई बह रही हैं, लोगों की समझ में वह तरह नहीं आती, इसलिये कि वे जड़वादी हैं। वे जड़ गंगा का महत्त्व मानते हैं। अछूत ही

इसमें ठीक-ठीक पवित्र होंगे। पर कुछ दान लिया कीजिए। नहीं तो गुजर कैसे होगी ?"

कुल्ली हँसे। बोले—"बहुत गरीब हैं; फिर मैं पहले जमींदार था, लोग अब भी नंबरदार कहकर पुकारते हैं; आप जानते ही हैं, उनसे कुछ ले नहीं सकता। सिर्फ़ बत्ती का तेल लेता हूँ। रात को ही लड़कों की पढ़ाई अच्छी होती है, क्योंकि बड़े लड़के रात को ही अपने काम-काज से फ़ुर्सत पाकर आते हैं।"

मैंने कहा—"भाभी साहबा को सुना, आपने पूर्ण रूप से शुद्ध किया है।"

"हाँ," कुल्ली ने मुस्किराकर कहा—"अयोध्याजी ले गया था वहाँ गुरुमंत्र दिलाया। लेकिन हिंदू बड़े नालायक़ हैं। इस हद तक मुझे उम्मीद न थी। कहते हैं, बिल्ली को तुलसी की माला पहनाकर लाया है।" कहकर कुल्ली ख़ुद हँसे।

फिर कहा—"यहाँ महेश-गिरी के मठ से कुछ रुपए माहवार मिलने की उम्मीद है। कुँअर साहब, सेमरी, चेयरमैन हैं यहाँ के ट्रस्ट के; मैंने उनसे निवेदन किया था, उन्होंने देने का वचन दिया है। लेकिन यहाँ के जो लोग हैं, वे विरोधी हैं।"

मैंने कहा—"यहाँ कौन-कौन हैं, आप कहिए, मैं मिलकर उनसे कहूँ।"

उदास होकर कुल्ली ने कहा—"वे लोग न करेंगे।"

मैंने नाम पूछा। कुल्ली ने नाम बतलाए।

मैंने कहा—"अच्छा, नंबरदार, ये लोग आपसे नाराज़ क्यों हैं ?"

कुल्ली ने कहा—"सच बात कह दूँ ; जब मैं मंत्र लेवाकर आया, तब एक ने बड़े भले आदमी की तरह मुझसे आकर पूछा—कहो, नंबरदार, कहाँ से मंत्र लिवाया ? मैंने बतलाया। यहाँ से एक आदमी अयोध्याजी गया, और वहाँ जाकर पूछा कि राय पथवारीदीन की स्त्री को मंत्र दिया गया है, तो क्या यह मालूम कर लिया गया है कि वह किस जाति की है। गुरुजी के चेले ने पूछकर कहा कि राय पथवारीदीन की स्त्री है, बस । उस आदमी ने कहा, आपको धोखा दिया गया है, वह मुसलमानिन है । गुरुजी के मठ में खलबली मच गई। उनके चेले बिगड़ जायँगे, तो आमदनी का क्या नतीजा होगा, और फिर अयोध्याजी है जहाँ रामजी की जन्मभूमिपर बाबर की बनाई मसजिद है,—हिंदू-मुसलमानवाला भाव सदा जाग्रत रहता है, सोचकर, समझकर चेले ने कहा—आप जाइए, हम इस छल करने की शिक्षा देंगे । वह आदमी चला आया। मेरे पास चिट्ठी आई, तुमने हमसे छल किया, इसलिये कंठी-माला-मंत्र वापस कर दो ; नहीं तो हम उलटी कंठी बाँधकर, उलटे मंत्र से उलटी माला जपकर अपना दिया मंत्र वापस ले लेंगे।"

कौतुहल-वर्धक बात थी। मैंने पूछा—"तब तो तुम्हें कोई अधिकार नहीं।"

कुल्ली बोले—"जब तक दम नहीं निकलता। जब तक है, तब तक सबके जो अधिकार हैं; मुझे भी हैं, हालाँकि यंत्र-मंत्र पर मुझे यों भी विश्वास नहीं। लेकिन जिन्हें है, उन पर है। लिहाज़ा यह सब करना पड़ा।"

"फिर तुमने भी कोई जवाब दिया?" मैंने पूछा। "हाँ; कस कर। गुरुजी की बोलती बंद हो गई। मैंने लिखा, जब आप शुद्ध की हुई मुसलमानिन को नहीं ग्रहण कर सकते, तब आप गुरु नहीं ढोंगी हैं, आपने व्यापार खोल रक्खा है, आपमें हृदय का बल नहीं, आप एक नहीं सौ उलटी माला जपिए। हिंदूओं ने बराबर समाज को धोखा दिया है। लेकिन यह कबीर की बहन है। इसे कोई धोखा नहीं दे सकता। इसमें श्रद्धा है। श्रद्धा न होती, तो मेरे पास न आती। कबीर को भी रामानंद ने ऐसी ही बात कही थी। लेकीन कबीर समझदार था। इसीलिये आप-जैसे सैकड़ों गुरु उसके चेले हुए। हिंदूओं को चराया, मुसलमानों को भी, और था महामूर्ख।

कुल्ली ओज में आ गए थे। कहकर हाँफने लगे। मैंने सोचा, कुछ सुस्ता लें।

कुछ देर बाद मैंने पूछा—"आपने महात्मा जी को लिखा?"

कुल्ली ने कहा—"जान पड़ता है, यह भी ऐसे ही होंगे।"

मैंने कहा—"नहीं, साल-भर अछूतोद्धार करने का उन्होंने कार्य ग्रहण किया है। देश के इस कोने से उस कोने तक दौरा करेंगे।"

कुल्ली ने कहा—"बस, दौरा-ही-दौरा है। काम क्या होता है ? पहले अछूतों की बात नहीं सोची। जब सरकार ने पेंच लगाया, तब खोलने के लिये दौड़े-दौड़े फिर रहे हैं।"

मैंने कहा—"अच्छा, यह बताओ दोस्त, तुमने भी पेंच में पड़कर अछूतोद्धार सोचा है या नहीं।"

कुल्ली नाराज हो गए। कहा—"मेरे साथ भी कोई जमात है ? और अगर यही है, तो बैठा लें महात्माजी मुसलमानिन।"

"तुम कैसे हो ?" मैंने डाँटा, "वह बुड्ढे हो गए हैं, अब मुसलमानिन बैठाएँगे।"

कुल्ली शांत हो गए, कहा—"एक बात कही।" फिर शायद खत लिखने की सोचने लगे। सोचकर कहा—"कोई चारा नहीं देख पड़ता। हाथ भी बँधे हैं। लेकिन काम करना ही है। क्या किया जाय ?"

मैंने कहा—"नंबरदार, 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' इसी-लिये कहा है। जिधर चलना चाहते हों आप, उधर चले हुए बहुत आदमी नजर आएँगे आपको—आपसे बड़े-बड़े, उसी तरफ़ चले जाइए। आज तक ऐसा ही हुआ है। कोई कुछ काम करता है, तो दुनिया से ही वस्तु-विषय ग्रहण करता है, और उस विषय के काम करनेवालों को देखता है, पढ़ता है, सीखता है, समझता है, तब अपनी तरह से एक चीज देता है। आप अछूतोद्धार कर रहे हैं, कीजिए, करनेवालों से मिलिए, उनकी आज्ञा लीजिए ; जिन्हें अधिकांश जन मानते हैं, मेरे-

आपके न मानने से उनकी मान-हानी नहीं होती, यही समझिए मैं-आप उनके मुक़ाबले कितने क्षुद्र हैं। अगर यह धोखा है तो इस धोखे को आप तो नहीं मिटा सकते ? आप अपना रास्ता भी नहीं निकाल सकते, क्योंकि अभी आपने ही कहा है—चारा नहीं, हाथ भी बँधे हैं। महात्माजी को संसार की बड़ी-बड़ी विभूतियाँ मानती हैं। वह मामूली आदमी नहीं।"

कुल्ली कुछ देर स्तब्ध रहे। फिर साँस भरकर बोले-"यहाँ कांग्रेस भी नहीं है। इतनी बड़ी बस्ती, देश के नाम से हँसती है, यहाँ कांग्रेस का भी काम होना चहिए।"

कुल्ली की आग जल उठी। सच्चा मनुष्य निकल आया जिसमें बड़ा मनुष्य नहीं होता। प्रसिद्धि मनुष्य नहीं। यही मनुष्य बड़े-बड़े प्रसिद्ध मनुष्य को भी नहीं मानता, सर्वशक्तिमान् ईश्वर की भी मुख़ालफ़त के लिये सिर उठाता है, उठाया है। इसी ने अपने हिसाब से सबकी अच्छाई और बुराई को तोला है और संसार में उसका प्रचार किया है। संसार में कब उतरा ?

मैं कुल्ली को देख रहा था। एक साँस छोड़कर कुल्ली ने कहा—"मधुआ चमार की औरत को कल तेज़ बुख़ार था, देखने जाना है, अस्पताल अगर न ले आ सका, तो डॉक्टर साहब के पैरों पड़ूँगा—देख लें, फीस के रुपए उसके पास कहाँ, मधुआ काम पर गया होगा, उसका लड़का ढोर चराने।"

कहकर, नमस्कार कर कुल्ली उठे। मैं देखता रहा, तेज़-क़दम वह चले गए।

मैं उठकर महेश-गिरि मठ के मेंबरों से मिलने गया। मेंबर वे ही होते हैं, जो प्रतिष्ठित हैं, जो प्रतिष्ठित है, उन्हें अप्रतिष्ठा की बातें सब समय घेरे रहती हैं। पहले लालाजी मिले। बड़े सज्जन हैं। दर्ज़ी की दूकान पर खड़े थे। कोई कोट सिलने को दिया था। कपड़े के शौक़ीन हैं। घर के साधारण जमींदार। मेरे घनिष्ठ मित्र। दर्ज़ी कई बार उनके मुँह पर कह चुका है कि रायबरेली छोड़कर लखनऊ में वह इसलिये हैं कि लाला साहब ने उसे पहचाना है और उसने लाला साहब को; अगर मन का काम न मिला, तो कारीगर का जी नहीं भरता; लाला साहब एक-एक अंग नपाते हैं, और देखते हैं कि ठीक बैठा या नहीं।

मुझे देख कर प्राचीन पद्धति के अनुसार लाला साहब ने प्रणाम किया, दर्ज़ी ने भी हाथ जोड़े। आशीर्वाद मैं देता नहीं नमस्कार करता हूँ या खीस निपोरता हूँ। एक दिन मेरे पुत्र ने लड़कपन में पूछा था—"बप्पा, कोई पैर लगता है, तो आप आसीस क्यों नहीं देते?" मैंने कहा—"मामा के यहाँ रहते-रहते तुम्हारी जैसी आदत हो गई, मेरी वैसी नहीं हो पाई।"

मित्र ने ठाँट के साथ पूछा—"क्या है?"

मैंने कहा—"सुना, तुम महेश-गिरि मठ के मेंबर हो। तुम्हें लोग मानते भी बहुत हैं। मेरे मित्र हो, इसलिये समझदार हो, मैं भी मानता हूँ। एकांत की एक बात है।"

मित्र गर्दन बढाकर एकांत की ओर चले। दर्जी समालोचक की दृष्टि से देखने लगा।

एकांत में मैंने पूरे कविकंठ से गद्य में कहा—"यार, कुछ अछूतों के लिये भी करो।"

"अहह"—मित्र ने ध्वनी की, "मैं समझ गया, कुल्ली ने पकड़ा होगा आपको। अरे, आप भले आदमी, इन बातों में न पड़िए। आपने तो जैसा सुना, वैसा ही समझा।"

"नहीं," मैंने कहा—"मैं व्यंग्य बहुत लिख चुका हूँ; जैसे का वैसा ही नहीं समझता।

"व्यंग्य क्या ?" मित्र ने पूछा।

मैंने कहा—"जैसे तुम्हारा सर है, सर होकर न हो, या इस पर चार सींगें हों।"

"यानी ?"मित्र कुछ बिगड़े।

"अब यानी और क्या ?"मैंने सीधे देखते हुए कहा।

"आप सही-सही बात कहिए।"मित्र कुछ दोरुखे होकर बोले।

"अब आए"सोचकर व्यंग्य में मैंने कहा, "रास्ते पर, कल आठ-दस आदमी तुम्हारा नाम लेकर कह रहे थे, लाला की एक टाँग तोड़ दी जाय; जब देखो, दर्जी की दूकान पर खड़े रहते हैं।"

"ऐं !"लाला घबराए। पूछा—"कोई वजह भी मालूम हुई ?"

"कुछ नहीं," मैंने कहा—"काले-काले आदमी थे—यही पासी-चमार होंगे।"

लाला सोचकर निश्चय पर पहुँचने लगे। कहा—"हाँ मैं समझ गया।"

मैंने सोचा, लाला टाँग की ख़ैर मना रहे हैं,।

"कुल्ली मिले थे?" लाला ने पूछा।

"वह तो बहुत दिन से नहीं मिले। वे लोग क्यों बिगड़े हैं, मुझे अंदाज़ लड़ानी पड़ी।"

सोचते हुए लाला दर्ज़ी की ओर बढ़े। मैं पंडित जी की ओर चला। दिन के ग्यारह का समय होगा। पंडितजी के यहाँ पहूँचा, तो देखा, पंडितजी कनकैयाउड़ा रहे हैं, मंझा लखनऊ से मँगवाया है, इसलिये कि उनकी कनकैया कोई न काट पाए। मैंने कहा, एक ज़रूरी कामसे आया था। बोले—"देख ही रहे हैं, अभी फ़ुर्सत नहीं है।" मैं समझ गया, यह और कड़ा मुक़ाम है। कहा—"रायबरेली से डिप्टी साहब आए हैं, गंगा नहाने आए थे। मैं यहाँ हूँ, जानते थे। क्योंकि उनसे मिलकर आया था, और उन्हें बुला भी आया।"

पंडितजी को जैसे जूड़ी आ गई, पूछा—"कहाँ हैं?" मैंने कहा—"मेरे वहीं हैं; आपको बुलाया है, साथ ही आते थे; मैंने कहा—नहा चुके हो, गरमा जाओगे, फिर पैदल चलना है और चढ़ाई भी है, मैं जाता हूँ, वह भी मेरे मित्र हैं, बुला लाता हूँ।"

पंडितजी ने नौकर को बुलाकर कहा—"अरे, डोर लपेट। हमें डिप्टी साहब ने बुलाया है।"

नौकर ने पतंग ले ली। आप तुर्त-फुर्त नीचे उतरे, कपड़े पहनने लगे। तैयार होकर छड़ी लेकर चले। बड़ी जल्दी पैर उठ रहे थे। मैं उनकी चाल देखता, साथ चलता जा रहा था। आधे रास्ते पर आकर पूछा—"अपने हल्के के महादेवप्रशाद-जी हैं?"

मैंने कहा—"हाँ।"

न-जाने क्या सोचते रहे। घर आकर मैंने बैठका खोला। बैठका खोलते ही उन्होंने पूछा—"डिप्टी साहब?"

मैंने कहा—"अपनी ऐसी की तैसी में चले गए।"

"आपने मुझे धोखा दिया।"पंडितजी ने कहा।

"आपने मुझे कौन ज्ञान दिया था?"मैंने कहा।

"बस, अब क्या कहूँ आपको।"पंडितजी गरमाए हुए लौटे।

मैं तभी समझ गया था, इस मूर्ख का बुद्धि का कोठा बिलकुल खाली है। कहा—"जैसा मेरा आना-जाना व्यर्थ रहा वैसा ही आपका; दुःख न कीजिएगा। जाइए, कनकैया उड़ाइए।"

मैं लखनऊ आकर कुछ दिनों बाद लौटा। कुल्ली ने अपने काम के संबन्ध में क्या किया, क्या कर रहे हैं, जानने की इच्छा थी, आग्रह था। जाने पर ससुराल में ही कुल्ली की तारीफ़ सुनी। श्रीमती जी की जगह सलहज साहब थीं ; अब तक दो-तीन बच्चे की मा हो चुकी थीं, इसलिये इच्छा होने पर बात-चीत छेड़ देता था, घूँघट के भीतर से शृंगार-साहित्य के उत्तर बड़े भले मालूम पड़ते थे। एक दिन कहा भी कि महात्माजी पर्दे के ख़िलाफ़ प्रचार कर रहे हैं, तुम उनकी भक्त भी हो, फिर मेरे सामने क्यों घूँघट काढ़ती हो ? उन्होंने कहा, यों

मेरी इच्छा नहीं, लेकीन यहाँ के आदमी ऐसे हैं कि कुछ-का-कुछ सोच लेते हैं। मैंने कहा, तो अपनी आँखे ढँककर दूसरों की आँखो पर पर्दा डालना चाहती हो ?—रहस्यवाद अच्छा है। ऐसी मेरी छोटी सलहज साहबा और सासुजी मेरे जाते ही उच्छ्वसित होकर भिन्न-भिन्न वाक्यों से एकही बात कह गईं—"कुल्ली बड़ा अच्छा आदमी है, खूब काम कर रहा है; यहाँ एक दूसरे को देखकर जलते थे, अब सब एक दूसरे की भलाई की ओर बढ़ने लगे हैं; कितने स्वयंसेवक इस बस्ती में होगए हैं। कांग्रेस क़ायम हो गई है। सब अकेले कुल्ली का किया हुआ है।"

सासुजी के सुपुत्र ने गले में और जोर देकर कहा,—"अम्मा कुल्ली अठारह घंटा काम करते हैं। छ-छ कोस पैदल जाते हैं कांग्रेस के नियम्बर बनाने के लिये। बस्ती में और बाहर सब जगह इतनी इज्जत है कि लोग देखकर खड़े हो जाते हैं।"

सासुजी ने कहा—"भैया, आदमी नहीं देवता है कुल्ली।"

सलहज साहब ने कहा—"मैं तो उन्हें अवतार मानती हूँ। बिंदा खटिक की दुलहिन मर रही थी; गाँव में इतने आदमी थे कोई नहीं खड़ा हुआ; नंबरदार ने अपने हाथों उसकी सेवा की।"

मैंने कहा—"ज़रा उनसे मिलना था।" मन में ऊधम मचा हुआ था कि महात्माजी को कुल्ली ने लिखा होगा, देखूँ, क्या जवाब आया

साले साहब ने कहा—"मैं चला जाऊँगा।" कहकर बड़ी तेज़ी से अपना डंड़ा उठाकर, एक दफा अपनी बीबी को, फिर मुझे, फिर विश्वास की दृष्टि से अपनी अम्मा देखकर चले।

मैंने बाहर के बैठके का रास्ता लिया। इस समय कुछ प्रसिद्ध हो जाने के कारण, बस्ती के स्कूल-कॉलेज के पढ़ने—वाले लड़के भी आते थे, उन्हें भी समय देना पड़ता था। प्रायः सबका पहला प्रश्न "छायावाद क्या है" रहा। मैं उत्तर देता-देता अभ्यस्त हो गया था। समझाने में देर न होती थी, यद्यपि लड़कों की समझ में कुछ न आता था। बाद को आश्वासन देता था कि बाद को समझिएगा। इन्हीं दिनों श्रीमान बाबू इक़बाल वर्मा साहब 'सेहर' से वहाँ मुलाक़ात हुई। अनी सज्जनता और शुद्ध साहित्यकता के कारण वह स्वयं पहले मुझसे मिलने आए थे, यह मालूम कर कि मैं वहाँ हूँ। मुझे यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि 'सेहर' साहब की और मेरी एक ही बस्ती में ससुराल है। उनके साथ गोस्वामी तुलसीदासजी के सुप्रसिद्ध समालोचक-विद्वान् बाबू राजबहादुर लमगोड़ा एम्० ए०, एल्-एल्० बी० साहब के भाई साहब भी थे। लमगोड़ा साहब से मिलने की मेरी बहुत दिनों की इच्छा थी। क्योंकि उनकी आलोचना मुझे बहुत पसंद आई थी, पर दुर्भाग्य-वश मिल नहीं सका था, उनके भाई साहब से मैंने ज़िक्र किया, उन्हीं के ममान में ; उन्होंने मुझे फ़तेहपुर बुलाया ; फिर 'सेहर' साहब ने कविता सुनाने की आज्ञा की ;

मैंने सुनाई ऐसी अनेक घटनाएँ हुईं; पर अप्रसिद्ध जनों की होने के कारण रहने दी गईं। सब जगह एक बात मैंने देखी मेरी कविता पढ़कर लोग नहीं समझे, सुनकर समझे, और इतना समझे, कि मुझे 'श्रुति' पर ही कविता को छोड़ना पड़ा।

बैठके में बैठा नए भाव रूपमयी की तलाश में था कि साले साहब आए, और बड़ी इज्जत से कुल्ली को दिखाकर—वह हैं—भीतर चले गए। उठकर मैंने कुल्ली का स्वागत किया। वह बैठे। देखा, चेहरा एक दिव्य आभा से पूर्ण है, लेकिन देह पहले से दुबली, जैसे कुल्ली समझ गए हैं, जीवन की संध्या। हो गई है, अब घर लौटना है। कविता का दिव्य रूप और भाव सामने जड़ शरीर में देखकर पुलकित हो उठा।

कुल्ली स्थिर भावसे बैठे रहे। इतनी शांति कुल्ली में मैंने नहीं देखी थी, जैसे संसार को संसार का रास्ता बताकर अपने रास्ते की अड़चनें दूर कर रहे हों। मैं कुछ देर और चुपचाप बैठा रहा।

कुल्ली ने एक साँस छोड़ी, जैसे कह रहे हों—"संसार में साँस लेने का भी सुबीता नहीं, यहाँ बड़ी निष्ठुरता है; यहाँ निश्छल प्राणों पर ही लोग प्रहार करते हैं; केवल स्वार्थ है यहाँ, वह चाहे जन-सेवा हो, चाहे देश-सेवा; इस सेवा से लोग अपनी सेवा करना चाहते हैं; किसान इस लिये कांग्रेस में आते हैं कि जमींदार की मारों से, सरकार के अन्याय से बचें और जमीन उनकी हो जाय; गरीब इसलिये तारीफ़ करते हैं

कि उन्हें कुछ मिलता है। पर इतना ही क्या सब कुछ है ? क्या इससे जीवन को शांति मिलती है ? शायद साँस के रहते नहीं मिलती।"

इतना स्तब्ध भाव था कि बात करने की हिम्मत नहीं होती थी। इसी समय साले साहब भीतर से जल-पान ले आए, और कुल्ली के सामने आदर-पूर्वक रखते हुए बोले—"रात-भर दुखिया चमार की सेवा करते रहे हैं, उसकी स्त्री का देहांत हो गया है, दुखिया बीमार है। आज लालगंज जायंगे, वहाँ कांग्रेस का काम है। कल दुपहर को जल-पान किया था, तब से ऐसे ही हैं।"

चुपचाप तश्तरी उठाकर कुल्ली नाश्ता करने लगे। चेहरा सुर्ख। मनुष्यत्व रह-रह कर विकास पा रहा है। देखकर मैंने सिर झुका दिया।

कुल्ली नाश्ता करके हाथ-मुँह धोकर बैठे, पान खाया। एक तृप्ति की साँस ली। उन्हें कुछ देर तक एकटक देखकर मेरे साले साहब ने प्रस्थान किया। बड़ी हिम्मत करके मैंने पूछा—"नंबरदार, फिर महात्माजी को लिखा था ?"

कुल्ली मुस्किराए। कहा—"अब क्या कहूँ ?"

मेरे लिये इतना बहुत था। एक दफा बैठके के इस तरफ से उस तरफ तक टहल आया। नाटक के पार्ट काफी कर चुका था। प्रभावित होकर कहा—"बड़ा गुस्सा लगता है। कितना बड़ा नेता क्यों न हो, आदमी की पहचान नहीं कर पाता। करें

भी कहाँ से ? दस-पाँच जगह कार्यकर्ताओं ने धोखा दिया कि समझ बैठे सब धोखेबाज़ हैं।" कहकर कुल्ली को देखा, प्रभाव पड़ रहा था। कहा—"मैं तो इसीलिये राजनीति में भाग नहीं लेता। मैं जानता हूँ, मुझे प्राविंशल कांग्रेस-कमेटी का भी प्रेसिडेंट न बनाएँगे, और कहने से भी बाज़ न आएँगे कि सिपाही का धर्म सरदार बनना नहीं। लेकिन सरदार सरदार ही रहेंगे सैकड़ों पेंच कसते हुए, ऊपर न चढ़ने देंगे।"

कुल्ली जगे। ध्वनि में प्रतिध्वनि होती ही है। कहकर मैं बैठ गया। पूछा—"क्या जवाब दिया महात्मा जी ने ?"

"कुछ नहीं," कुल्ली ने शुरू किया, "मैंने सत्रह चिट्ठियाँ (सत्रह या सत्ताईस कहा, याद नहीं) महात्माजी को लिखीं। लेकिन उनका मौन भंग न हुआ। सिर्फ एक चिट्ठी का जवाब महादेव देसाई ने दिया था, बस एक सतर, इलाहाबाद में प्रधान आफिस है, प्रांतीय, लिखए।"

"आपने फटकारा नहीं ?" मैंने उग्र साहनुभूति से कहा।

कुल्ली खाँसकर बोले—"आप क्या समझते हैं ? मैंने लिखा, महात्माजी, आप मुझसे हज़ारगुना ज्यादा पढ़े हो सकते हैं, तमाम दुनया में आपका डंका पिटता है, लेकिन हरएक की परिस्थिति को आप हरगिज़ नहीं समझ सकते, अगर समझते, तो मौन न रहते, जब मौन हैं, तब आप भगवान् हरगिज़ नहीं हो सकते, भगवान् अंतर्यामी होते हैं, आप अंतर्यामी नहीं हैं, यह मुझे पूरा-पूरा विश्वास होगया है, आपकी

बनियों ने भगवान बनाया है, क्योंकि ब्राह्मणों और ठाकुरों में भगवान् हुए हैं, बनियों में नहीं; जिस तरह बनियों ने आपको भगवान बनाया है, उसी तरह आप बनिया-भगवान हैं।"

मैंने कहा—"अरे, कुछ काम की बात भी लिखी ?"

काम की बात तो सत्रह बार लिख चुका था।"

"तो यह अट्ठारहवाँ पत्र है, अट्ठाईसवाँ ?"

"यह मुझे याद नहीं। आप आइएगा, तो आपको नक़ल दिखाऊँगा।"

मैंने कहा—बीच-बीच में दोहा-चौपाई-शेर भी लिखे थे ? इससे प्रभाव पड़ता है।"

"उस वक़्त कुछ याद ही नहीं आया। जो समझ में आया लिखा। यह तो जानता ही हूँ कि मूर्ख हूँ, बड़ी बड़ाई मूर्ख कहलेंगे। लेकिन भगवान तो मूर्ख और पंडित नहीं मानते, उनकी दृष्टि में सब बराबर हैं।"

"लेकिन गांधीजी ऐसे भगवान् नहीं। वह तो सबको भगवान बनाना चाहते हैं। इसलिये लोग उन्हें अवतार कहते हैं।"

"झूठ है।" कुल्ली ने कहा।

मैंने पूछा—"अच्छा, फिर आपने क्या किया ?"

"फिर इलाहाबाद को लिखा (अछूतों की जिस ऑफ़िस का नाम कुल्ली ने लिया, वह मुझे याद नहीं), लेकिन पहले वहाँ से भी जवाब न आया' तब मैंने पं० जवाहरलालजी को लिखा।"

"कैसे लिखा," यह कहिए।

गंभीर होकर कुल्ली बोले—"पहले तो सीधे-सीधे लिखा, जैसा सबको लिखा जाता है ; बड़े आदमी हैं, इसलिये कुछ इज्जत के साथ लिखा, लेकिन उसका उत्तर जब न आया, तब डाँट-कर लिखा। अरे, अपने राम को क्या, रानी रिसायँगीं, अपना रनवास लेंगी।"

मैं ताड़ गया, राजा इस समय कुल्ली खुद हैं ; इसलिये राजा नहीं कहना चाहते। कहा—"इस साल जवाहरलालजी राष्ट्र-पति हैं, राजा कहना चाहिए था।"

"वह राजा रानी एक हैं" कुल्ली ने कहा—"दूसरे पत्र का जवाब तो उन्होंने नहीं दिया, लेकिन पत्र को अछूतों के कार्यालय भेजवा दिया। वहाँ से जवाब आया कि मदद की जायगी। रायबरेली में जिलावाली ऑफ़िस से रुपए लीजिएगा, यहाँ से भेज दिए जायँगे।"

मैंने पूछा—"फिर आपको रुपए मिले?"

"हाँ, एक बार बस।" कहकर कुल्ली ने बाहर की तरफ़ देखा। कहा—"बड़ों की बात बड़े पहचानें। ज्यादा कहना उचित नहीं। अपने सिर दोष लेना सीख रहा हूँ। इतना है कि तबियत नहीं भरी, जिस तरह चार पैसे के भोजन से, सीधे व्यवहार से भरती है। मुझे लालगंज जाना है। वहाँ से उधर देहात घूमूँगा। कांग्रेस के मेंबर बना रहा हूँ। फ़ुर्सत कम रहती है। पाठशाला आपकी भाभी चलाती हैं। एक दिन

जाइएगा। मैं कई रोज के लिये जा रहा हूँ। बहुत दुर्बल भी हूँ। भगवान् के भरोसे अब नाव छोड़दी है। कोई खेनेवाला नहीं देख पड़ा। अच्छा, कुछ ख़याल न कीजिएगा। नमस्कार।

कुल्ली चले गए। अब यह वह कुल्ली नहीं हैं। प्रायः पचपन-छप्पन की उम्र। लेकिन कितनी तेजी। कोई उपाय नहीं मिला, किसी ने हाथ नहीं पकड़ा, कुछ भी सहारा नहीं रहा, तब दूसरी दुनिया की तरफ़ मुँह फेरा है। कितना सुंदर है, इस समय सब कुछ कुल्ली का! मैं देखता और सोचता रहा।

(१५)

दो-तीन दिन रहकर कुल्ली की पाठशाला और पत्नी को देखकर मैं लखनऊ चला आया। लेकिन जी नहीं लगा। कोई शक्ति मुझे लखनऊ की तरफ खींच रही थी, वहाँ की श्यामल-सजल प्रकृति, निर्मल गंगा, सुंदर घाट, दिगंत-विस्तार रह-रहकर याद आने लगा। सबसे अधिक आकर्षण कुल्ली का। एक जैसे पारलौकिक स्नेह मौन आमंत्रण दे रहा था—तुम आओ, तुम आओ। इसी समय याद आया, बहुत दिनों से दलमऊ की कतकी नहीं नहाई। इस बार चलकर नहाएँ।

इस तरह तीन ही चार महीने के अंदर फिर दलमऊ गया।

गंगा-तट की शारद प्रकृति बड़ी सुहावनी मालूम दी। सघन पुष्पावली में एक पुरानी स्मृति जैसे लिपटी हो। प्रकृति जैसे वर्षा में नहाकर निखर गई है। चारों ओर उज्ज्वलता। कुल्ली के लिये ऐसा ही उज्ज्वल समय आ गया है, सोचकर मन हर्ष से भर गया। मैं इक्के पर चला जा रहा था पहले दिन की याद आई, जब कुल्ली मिले थे। वह अदालती फ़ैशन का बिगड़ा कुल्ली आज आदर्श आदमी बन गया है।

इक्का ससुराल के सामने रास्ते पर रुका। आदमी आया। सामान उतार ले गया। सासुजी फाटक के सामने खड़ी हुई। इक्केवाले को पैसे दिला दिए। उतरकर मैंने उनके चरण छुए। भीतर गया। सलहज साहबा तिदरे के सामने आकर खड़ी हुई। यह स्वागत था—कलश उनके प्राकृतिक थे, साक्षात् प्रकृति को मन में नमस्कार किया। त्रुटियाँ बहुत होती हैं, लेकिन इनकी कृपा के बिना पर्दा पार करना दुःसाध्य है, बहुत पहले से जानता था। भविष्य की भगवान् जानें। साले साहब भीतर थे। बाहर निकले। कहा—"जीजा, कुल्ली सख्त बीमार हैं, आप बड़े मौक़े से आए। मुलाक़ात होजायगी। डॉक्टर साहब कहते थे, अब नहीं बचेंगे—कम-से-कम हमारे मान की बात नहीं रही, क्योंकि यहाँ वैसे अस्त्र नहीं हैं, न वैसी दवा है; रायबरेली ले जाँय, वहाँ बचना हुआ, तो बच जायँगे। कल जाइए देख आइए।"

मैंने पूछा—"हुआ क्या है?"

उन्होंने मुँह बिगाड़कर कहा—"गर्मी। पहले थी, इधर दौड़े बहुत, क्वार की धूप सिर से उतरी, फ़ाक़े किए, बीमार हो गए। लेकिन जीजा, यहाँ कोई गाँव नहीं, जहाँ कुल्ली ने कांगरेस के नियमबर नहीं बनाए। नीचे का पेट तक सड़ गया है—सेरों पस निकलता है, इतनी बदबू आती है कि कोई छन-भर नहीं ठहर सकता। और...."

मैंने कहा—"और क्या ?"

साले साहब मुस्किराकर रह गए।

मैंने कहा—"हँसने की कौन-सी बात है ?"

अपनी अम्मा और पत्नी की तरफ़ देखकर साले साहब ने मुझे एकांत में चलकर बुलाया और मेरे जाने पर कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"लिंग लापता है !"

"लापता ?" मैंने संदेह के प्रकाश्य स्वर से पूछा।

"हाँ," उन्होंने कहा, "लोग कहते हैं, अब नहीं रहा . कहते हैं—अब अगर कुल्ली जी भी गए, तो कुल्लियायन क्या करेंगी ?"

मैं गंभीर होकर चारपाई पर आकर बैठा।

सलहज साहब गंभीर होकर बोलीं—"हाँ, कुल्ली की बहुत ख़राब हालत है।"

सासुजी मेरे जल-पान की व्यवस्था के लिये भीतर चली गई थीं। अपनी बहू की बात सुनकर उसे भीतर बुलाया । मैं दम साधे बैठा रहा। जल-पान के बाद घर की और-और बातें होती रहीं।

दूसरे दिन सबेरे धूप निकलने पर मैं कुल्ली के यहाँ गया। रास्ते में कई स्वयंसेवक उधर जाते हुए मिले। दरवाजे पर कई अछूत लड़के उनके तीन-चार अभिभावक। सबके चेहरे कह रहे थे, कुल्ली नहीं बचेंगे। मैं भीतर गया।

ठीक उसी जगह जहाँ पहले दिन कुल्ली बैठे थे, आज पड़े दीखे। अज वे भाव यथास्थान अपनी कुरूपता को प्राप्त हैं, लेकिन मुख पर नहीं। मुख पर दिव्य कांति क्रीड़ा कर रही है प्रवेश करते ही ऐसी बदबू आई कि जान पड़ा, एक क्षण नहीं ठहर सकूँगा। हिम्मत करके खड़ा रहा। विद्या और अविद्या का आधा-आधा भाग कुल्ली के देह में पूर्ण रूप से प्रकाशित था। कुल्ली कुछ ध्यान में थे। आँखें खोलकर देखा—सामने देखकर, "अहा! आप हैं। बड़े सौभाग्य, बड़े सौभग्य, अब मैं कुछ नहीं चाहता।" कहकर विह्वल हो गए। एक अछूत से सिरहाने की तरफ़ बिस्तरा बिछा देने के लिये कहा, मुझसे कहा—"यह हाल है। बड़ी बदबू मिलती होगी। लेकिन ईधर न मिलेगी। दिल के ऊपर मैं नहीं चढ़ने दे रहा। मुझे इसका रूप देख पड़ता है। हृदय से ऊपर मैं बहुत अच्छा हूँ। सिरहाने बैठकर बताइए, बदबू मिलती है?"

बैठकर मैंने मालूम किया, वास्तव में उधर बदबू नहीं थी। क्या कहूँ, क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आरहा था। पाँच रुपए निकाले, और कुल्ली की स्त्री को देते हुए कहा—"आप दूध पीजिएगा।"

कुल्ली कुछ न बोले। केवल ऊपर की तरफ देखा। कुछ देर फिर मौन रहा।

मैंने पूछा—"डॉक्टर साहब क्या कहते हैं ?"

"डॉक्टर क्या कहेंगे ? अब कहने की बात नहीं रही। ईश्वर की इच्छा।" कुल्ली ने आँखें मूँद लीं।

कुछ देर तक मैं बैठा रहा। फिर बाहर निकला। कुल्ली की स्त्री रोने लगी। कहा—"रायबरेली ले जाने के लिये कहते हैं। खर्चा यही पाँच रुपया है। डोली में आएँगे नहीं। लारी कोई आएगी, यहाँ खाली होगी, तो उसमें ले जाऊँगी, लेकिन फिर वहाँ क्या होगा ?—वहाँ भी खर्चा है।" कहकर रोने लगीं।

मैंने कहा—"आप इन्हें ले जाइए। मैं कुछ रुपए चन्दा करके रायबरेली ले आता हूँ। आगे ईश्वर मालिक है।"
आश्वस्त होकर कुल्ली की स्त्री देखती रहीं, धीरे-धीरे बाहर चला।

घर में दूसरे दिन मालूम किया, कुल्ली की स्त्री एक लारी पर कुल्ली को लेकर रायबरेली गई हैं। उत्तरदायित्व बढ़ गया। दलमऊ के स्वयंसेवकों को लेकर कांग्रे-कमेटी के दफ्तर गया। वहाँ प्रसिडेंट साहब अपना पक्का मकान बनवा रहे थे। उन्हीं के अधबने मकान के एक कमरे में कांग्रेस कमेटी का दफ्तर है। स्वयंसेवकों ने मेरा परिचय दिया। कुल्ली का काम वह देख चुके थे। रुपए की बात मैंने कही, तो बोले—

"कांग्रेस का यह नियम नहीं, वह आपसे रुपए ले तो सकती है, पर दे नहीं सकती।"

यह मैं जानता हूँ। पर जिसे योग्य समझती है, उसे इतना देती है कि दूसरों को पता नहीं चलता।

बोले—"आपका मतलब ?"

मैंने कहा—"यह तो पहले अर्ज़ कर चुका।

एक प्रेसिडेंट की हैसियत में बोले—"रुपए नहीं दिए जायँगे।"

मैंने कहा—"पहले मैं ५) दे चुका हूँ। अब और २) दे रहा हूँ। रायबरेली का ख़र्च बरदाश्त करूँगा। इससे अधिक इस समय मेरी शक्ति नहीं। ३) और तीन सज्जन मित्रों से एक-एक रुपया चंदा करके लिया है। कुछ आप दे दें, तो काम चल जायगा।"

उन्होंने कहा—"सात रुपए विजयलक्ष्मी के स्वागत के ख़र्च से बचे हैं, आठ हो चुके हैं, हालाँकि वह आई नहीं, लेकिन वे रुपए जमा कर दिए गए हैं।" मैंने कहा—"विजय-लक्ष्मीजी के स्वागत से कुल्ली नंबरदार की जान ज़्यादा क़ीमती है, यह तो आप मानते हैं ?"

उन्होंने कहा—"मैं सब कुछ जानता और मानता हूँ। लेकिन यही शहरवाले जब घर बन गया, तब कहते हैं, दो हाथ म्युनिसिपैलिटी की जगह बढ़ा ली है।"

"इसीलिये आप विजयलक्ष्मीजी का ध्यान कर रहे हैं ?" मैंने

मन में कहा। खुलकर कहा—"कोई विजयलक्ष्मीजी का स्वागत करता है, तो पहले पता लगाती हैं—क्यों स्वागत किया गया। अगर कारण कोई उन्हें पाएदार मालूम हुआ, तो उसके पाए उखाड़कर तब दम लेती हैं। मैं तो लखनऊ में रहता हूँ, रोज़ देखता-सुनता हूँ। साक्षात् विजयलक्ष्मी हैं।" हाथ जोड़कर मैंने प्रणाम किया—"कभी किसी से नहीं मिलतीं, इसीलिये; देश में क्या, संसार में उनकी जोड़ नहीं। लेकिन उन्हें मालूम हो जाय कि किसी ने कांग्रेस के किसी कार्यकर्ता के पीछे एक रक़म फूँक दी है, तो फिर उनसे जो चाहे करवा ले।"

लाला मुँह फैलाए सुनते रहे। पूछा—"आपसे मिलती हैं ?"

मैंने कहा—"नहीं, किसी से नहीं। लेकिन काम की बात होती है, तो इनकार भी नहीं करतीं।" मैंने फिर नमस्कार किया—"साक्षात् देवी !"

लाला ने कहा—"तो वे सात रुपए हैं, ले जाइए।"

"हाँ," मैंने कहा, "दीजिए, बड़ी देर हो गई।"

लालाजी से रुपए लेकर मैंने रायबरेली जाने की तैयारी की। कुल्ली के एक मुसलमान मित्र भी स्टेशन पर मिले, वहीं जा रहे थे। रायबरेली पहुँचने पर सिविलसर्जन से मालूम हुआ, पहले से दशा सुधार पर है, क्योंकि पहले चिल्लाते थे, अब चुप रहते हैं। कुल्ली को देखने पर उल्टा फल मालूम दिया—शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई है। ऑपरेशन के बाद से चित

ऊबता जा रहा है। कुल्ली ने यहाँ भी कहा, डॉक्टरों को कुछ नहीं आता, मैं कहता हूँ, ढाढ़स न दीजिए, मैं चंद घंटों का मेहमान हूँ, लेकिन कहते हैं, नहीं, यह दिल की घबराहट है, तुम अच्छे हो जाओगे। मैं देखता था, कुल्ली की वाणी में, मुख पर, दृष्टि में कोई दोष नहीं, उसकी कोई उपमा भी नहीं दी जा सकती। इसी समय सर्जन साहब भी देखने आए। कुल्ली ने कहा—"बाबूजी, मैं बचूँगा नहीं, लोगों को अब मेरे ही पास रहने दीजिए, उन्हें फल और दवा के लिये दौड़ाए नहीं।" डॉक्टर साहब ने कहा—"अगर तुम्हें यह दिव्य ज्ञान था, तो यहाँ आना ही नहीं था; जब आए हो, तब जैसा हम कहते हैं, करो। पहले तुम्हारा गला सोने पर घरघराता था अब बंद हो गया है।"

कुल्ली ने कहा—"बाबूजी, मेरा गला नहीं घरघराता था, नाक बोलती थी, अब कमजोर हो गया हूँ, नहीं बोलती।"

"चुप रहो," डॉक्टर साहब ने कहा—"नाक बजना और गला घरघराना एक बात नहीं। हम खुद देख-सुन चुके हैं। बोलो मत।" डाक्टर साहब दूसरे रोगी की तरफ़ चले गए। कुल्ली सीधी-सरल दृष्टि से उन्हें देखते रहे।

दलमऊ में मैंने सुना था, "जब से कुल्ली की हालत और संगीन हुई, तब से उनकी स्त्री के वहाँ एक क्षण पैर नहीं जमते। रायबरेली शहर में भागी फिरती हैं।"

मैंने बात साफ़ कर लेने के लिये पूछा था—"क्या दुःख से?"

उत्तर बहुत शोभन नहीं मिला।

लेकिन, जब मैं गया, दुर्भाग्य-वश वह वहाँ नहीं थी। रुपए लिए खड़ा रहा। वह सुनी बात रह-रहकर याद आती रही। अंत में जब धैर्य जाता रहा, तब मैंने कहा—"आपकी श्रीमती-जी नहीं हैं, कुछ रुपए लाया हूँ।"

कुल्ली ने साथ गए मुसलमान सज्जन की ओर इशारा करके कहा—"इन्हें दे दीजिए। वह बेचारी तो इस-उस काम से दिन-भर मारी-मारी फिरती है।" मैंने रुपए दे दिए। रहने के लिये कुल्ली ने पूछा—"यहाँ कहाँ रहिएगा?"

मैंने कहा—"कुछ मदद रायबरेली से भी पहुँचाने का इंतजाम करूँगा। मेरे एक मित्र यहाँ ट्रेजरी-अफ़सर हैं। उनके बँगले में ठहरूँगा। वहीं बातचीत करूँगा।"

नमस्कार कर मैं विदा हुआ। कुल्ली ने कहा—"अब मुलाक़ात न होगी।" आँखों से आँसू टपक पड़े। मैं वहाँ से बाहर निकल आया।

ट्रेजरी-अफ़सर से कुल्ली की मदद के लिये कहकर मैं लख-नऊ चला आया। दो ही तीन रोज़ में मालूम हुआ, कुल्ली का देहांत हो गया है; उनकी लाश लखनऊ लाई जा रही है; लख-नऊ के स्वयंसेवक, अछूत और कांग्रेस-कार्यकर्ता जुलूस निकालेंगे। फिर नाव पर शव को लेकर गंगाजी के उस पार अंतर्वेद में जलाएँगे। दाह के लिए कुल्ली-वंश के कोई दीपक बुलाए गए हैं; उनकी स्त्री चूँकि विवाहिता नहीं इसलिये उसके हाथ अंतिम संस्कार न कराया जायगा। मैं स्तब्ध हो गया कुल्ली का यह परिणाम देखकर, लेकिन साथ ही क़स्बे-भर के

मनुष्यों की उमड़ती हुई सहानुभूति से आश्चर्य भी हुआ। एक साधारण आदमी देखते-देखते इतना असाधारण हो गया। दुःख था, अब कुल्ली से मुलाक़ात न होगी। कुल्ली मुझे क्या समझने लगे थे, यह लिख कर क़लम को कलंकित न करूँगा। उनके जीवन पर किसकी गहरी छाप थी, यह मुझसे अधिक कोई नहीं जानता। कुल्ली साधारण आदमी थे, हिंदी के सुप्रसिद्ध व्यक्ति प्रेमचंदजी और 'प्रसाद' जी अंतिम समय में अपना एक-एक सत्य मुझे दे गए थे; वह मेरे ही पास रहेगा, इसलिये कि उसकी बाहर शोभा न होगी, कदर्थ होगा; उनकी महान् आत्माएँ कुंठित होंगी। ऐसा ही एक सत्य कुल्ली के पास भी था। मनुष्य अपने समझे हुए जीवन को समझ ऐसे ही परिवर्तन के समय पाता है, और देता है। कुल्ली कुछ पहले दे चुके थे, इन लोगों ने बाद को दी, इसलिये कि इनमें स्पर्द्धा थी, उनसे स्पर्द्धा करनेवाला हिंदी में न था।

दूसरे की मैं नहीं जानता, मुझ पर एक प्रकार का प्रभाव पड़ता है, जो दुःख नहीं, नशे की तरह का है, जब किसी प्रिय जन का वियोग होता है, या वैसा भय मुझमें आता है। कुल्ली का देहांत हो गया है, मैंने बैठके में सुना था। कुल्ली की लाश डलमऊ पहुँची, उस समय मैं बैठके में था, स्वयंसेवक दो बार बुलाकर तीसरी बार बुलाने आया जब जुलूस निकल रहा था, मैं वहीं था, न जा सकने की बात कही। कुल्ली को फूँककर लोग वापस आए, मैं वहीं बैठा था। घर के लोग देख-देखकर

लौट गए। शाम को प्रकृतिस्थ होकर भोजन किया। कुल्ली की स्त्री चिल्ला-चिल्लाकर आसमान फाड़ रही है, सुना करता था; जा नहीं सका। दस दिन हो गए। कुल्ली का दसवाँ समाप्त हो गया। अवश्य मुझे यह मालूम न था कि कुल्ली का दसवाँ हो गया, एकादशाह है।

एकादशाह के दिन दस बजे के क़रीब कुल्ली की स्त्री को देखने गया। उस समय वहाँ एक घटना हो गई थी, इसलिये कुल्ली की स्त्री में कुल्ली की स्त्री की अपेक्षा मुसलमानिनवाला भाव प्रबल था।

मुझसे स्वर को खींचकर कहा—"नंबरदार तो चले गए, उनका सब काम हो गया, लेकिन दस दिन तक जो लोग आए, रहे, वे आज एकादशाह को क्यों नहीं आएँगे? मैं आपसे पूछती हूँ, यह हिंदुओं का खरापन है या दोग़ला पन?"

बात कुछ मेरी समझ में नहीं आई। मैंने कहा—"आप ज़रा और साफ करके बताइए। मैं इतने से नहीं समझा।"

श्रीमती कुल्ली दोनो हाथ के पंजे उठाकर उपदेश की मुद्रा से बोलीं—"देखिए, आप तो आए नहीं; नंबरदार को दाग़ दिया—उनके हैं कोई, मैं नहीं जानती; अच्छा भाई, दाग़ दिया तो दिया; दस रोज़ माना, ठीक है; दसवें दिन पंडित और टोला-पड़ोस गाँव-घर के सब आदमी थे, दाग़ देनेवाले ने मुझ से कहा, इतना तो हम कर देते हैं।" लेकिन साल-भर हम न मान

सकेंगे, हमें काम है, फिर हमारे चाचा भी बीमार हैं—अरे हाँ, कुछ हो जाय, तो उनके भी कोई नहीं, इसलिये सपिंडी तुम ले लो। पंडित ने भी कहा—ठीक है, ले लो, गाँवके दस भलेमानसों ने भी कहा। मैंने कहा, अच्छी बात है, पंडित जब कहते हैं, तब ले लें। सपिंडी ले ली। अब आज होम है। पंडित को बुलाया, तो कहते हैं, हम न जायँगे।"

मैंने पूछा—"क्यों ?"

जो बुलाने गया था, वह एक अछूत लड़का था। उसने कहा—"मन्नी पंडित ने कहा है, एक तो यों ही हमारी बहन की शादी नहीं होती, क्योंकि हम गंगा पुत्रों के यहाँ पंडिताई करते हैं, कुल्ली की स्त्री के घर होम कराने जायँगे, तो कोई पानी भी न पिएगा।"

"सुन लिया आपने ?" कुल्ली की स्त्री ने कहा—"यही मन्नी पंडित कल कहते थे—सपिंडी ले लो। अगर तुम्हें काम नहीं करना था, तो तुमने कहा क्यों ? और, जब कहा, तब आओगे कैसे नहीं ? दस आदमी गवाह हैं—रामगुलाम पंडित, राजाराम गंगापुत्र, घोम्बे महाबाम्हन,..."

मैंने कहा—"यह अदालत तो है नहीं। जो नहीं आना चाहता, उसे दूसरे मजबूर नहीं कर सकते।" मन्नी पंडित की दशा मुझे मालूम थी। वह कुलीन कान्यकुब्ज हैं। लेकिन उनकी बहन प्रायः बीस साल की हो गई थी, कोई ब्याह नहीं करता था, कारण, वह गंगापुत्रों के यहाँ यजन करते थे,

इनका धान्य लेते थे। मन्त्री के लिये दूसरा उपाय जीविका का न था।

मैंने कहा—"आप घबराइए नहीं। आपका काम हो जायगा।"

कुल्ली की स्त्री ने आश्वास की साँस ली। कहा—"अब आप ही लोग हैं!" कहकर, कृत्रिम करुणा से जैसे कंठरोध हो गया—आँखों में आँसू आ गए हों,—आँचल एक दफ़ा आँखों पर फेर लिया। फिर जोश में आकर बोलीं—"बिना आपके गए वह न आएँगे। आप ऐसे ही कहिएगा कि...."

"मैं समझ गया", मैंने कहा—"मेरी वहाँ जरूरत नहीं। नहाकर मैं यहीं आता हूँ। तब तक आप एक दफ़ा पंडित को और बुला भेजें। मैं अभी आता हूँ। वह न आएँगे, तो मैं हवन करा दूँगा।"

कुल्ली की स्त्री को जान पड़ा, साक्षात् वशिष्ठजी उनके घर जा रहे हैं।

मैं ससुराल की तरफ़ लौटा। रास्ते में ज्योतिषीजी का मकान है। यह वही ज्योतिषी हैं, जिन्होंने मेरा विवाह विचारा था; मैं मंगली था, ससुरजी इनकार कर रहे थे, लेकिन इनके पिता वहाँ के बृहस्पति थे,—राना साहब, राजा साहब लाल साहब, सब उन्हें मानते थे, अब भी उनके लड़कों को मानते हैं—उन्होंने कहा, विवाह बहुत अच्छा है, अगर लड़की को कुछ हो जायगा, तो बुरा नहीं, फिर जहाँ लड़का मंगली है,

वहाँ लड़की राक्षस है, पटरी अच्छी बैठती है। तब से इस खानदान पर मेरी एक सी श्रद्धा चली आती है। ज्योतिषीजी मुझसे बड़े हैं। प्रणाम कर मैंने तिथि और संवत् वग़ैरह पूछा। ज्योतिषीजी चौंके। मैं किस काट और कोटि का आदमी हूँ, जानते हैं। पूछा—"क्या करोगे? तुम और तिथि?"

मैंने कहा—"मझले पंडित बहन के ब्याह के डर से कुल्ली के घर नहीं जाना चाहते। हवन कराऊँगा। 'मासानां मासोत्तमे' तो हर महीने आप लोग कहते हैं। संकल्प में तिथि जान लेना जरूरी है।"

पंडितजी ने पूछा—"हवन कैसे कराओगे? क्या तुम यह सब जानते हो?"

"जानता तो दरअसल कुछ नहीं", मैंने कहा, "लेकिन यह जानता हूँ कि हवन में ब्रह्म से लेकर देव-दानव, यक्ष-रक्ष, नर-किन्नर, सबमें चतुर्थी लगती है, बाद 'स्वाहा,' और इतनी संस्कृत मुझे आती है कि कुल बातें अपनी रची संस्कृत में करूँ, यहाँ के पंडितों से क्रिया शुद्ध होगी, क्या कहते हैं?"

पंडितजी ने कहा—"हाँ, यह तो है।"

"अच्छा, पंचांग दीजिए।" मैंने कहा, "जल्दी है।"

पंचांग लेकर ससुराल गया। मेरे हाथ में देशी जूता देखकर सासुजी को उतना आश्चर्य न होता, जितना पंचांग देखकर हुआ। पूछा—"यह क्या है भैया?"

"पंचांग।" मैंने कहा, "चौकी और घड़ा-भर पानी रख दीजिए, जल्दी है, नहा लूँ।"

"क्या है ?" सासुजी ने आश्चर्य से पूछा।

"अभी पंडित कुल्ली के एकादशाह को नहीं गए, सपिंडी कुल्ली की स्त्री ने ले ली है इसलिये; कहते हैं, एक तो यों ही गंगापुत्रों की पुरोहिती के कारण लोग पानी पीते डरते हैं, फिर तो बहन बैठी ही रह जायगी।" पंचांग रखकर मैं कपड़े उतारने लगा।

शंकित होकर सासुजी ने कहा—"तो तुम यह सब क्या जानो ?"

"मैं जानता हूँ।" मैंने कहा।

"तो तुम वहाँ पुरोहिती करने जाओगे ?"

"हाँ, और एक जोड़ा जनेऊ निकाल लीजिए, पहन लूँ नहा कर।"

सासुजी घबराईं। कहा—"बचा, तुम हमें मेटोगे ?"

"कैसे ?" चौकी की ओर चलते हुए पूछा।

"ऐसे कि लोग हमारे यहाँ का खान-पान छोड़ेंगे।"

मैंने कहा—"मैं आपका ससुर हूँ या अजियाससुर ? मेरे पापों का आपको फल क्यों भुगतना पड़ेगा, मेरा दिया पिंड-पानी जब कि आपको नहीं मिल सकता। आप मुझे चौके में न खिलाइए, बस।"

सासुजी रोने लगीं। मैं नहाने लगा। नहाकर जनेऊ

पहना। कहा—"मैं जनेऊ नहीं पहनता, यहाँवाले जानते थे। तभी यहाँ का खान-पान छोड़ दिया होता। मैं ढोंगियों को जानता हूँ।"

नहाकर कपड़े पहने। चलने को हुआ, तो सासुजी को जैसे होश हुआ, बोलीं—"खाए जाओ।"

मैंने कहा—"लौटकर खाऊँगा।"

"नहीं," सासुजी ने कहा—"तुम वहाँ खा लोगे।" अपनी बहू से कहा—"गुड्डो, परस तो जल्दी।"

जल्दी-जल्दी भोजन कर मैं निकला। देखता हूँ, चारों ओर से लोगों का ताँता बँधा है—सब कुल्ली के घर जा रहे हैं। १९३७ ई० में काफी प्रसिद्ध हो चुका था, कुछ प्राचीन भी, ४० पार कर चुका था। एकादशाह कराने जा रहा हूँ, वहाँ के जीवन में सबसे बड़ा आश्चर्य था।

कुल्ली के घर में आदमी नहीं अट रहे थे। सबमें कौतूहल की दृष्टि। कुल्ली की स्त्री में वैसी ही श्रद्धा। वह समझती थीं, मैं कृतार्थ होगई। लोग मुझे देखकर शर्मा-शर्माकर कानाफूसी करने लगते थे। बहुतों को यह शंका थी, यह कैसे कराएँगे। मैं निश्चित था। मुख देखकर लोगों को विश्वास हो जाता था।

यथासमय मैं आँगन में जाकर बैठा। सामने हाथ जोड़कर कुल्ली की स्त्री बैठीं। लोग कोई खड़े, कोई बैठे। कोई भीतर, कोई बाहर। मैं चौक पूरने लगा। सुरबाधी लड़कपन

में बहुत खेल चुका था। वैसा ही एक चौकोर घेरा बनाया। लेकिन जानता था कि नौ कोठे नवग्रहों के बनते हैं, बनाए। बालू की वेदी पर हवन की लकड़ी रक्खी। घट में स्वस्तिका बनाई। सामने गौर रक्खी। घट का दिया जलाया।

मंत्र पढ़ते वक्त बार-बार अटकता था, क्योंकि पंडिताऊ स्वर नहीं निकल रहा था। कुछ देर सोचता रहा, ब्रजभाषा-काल में हूँ, सूरदास का सूरसागर और तुलसीदास की रामायण पढ़ रहा हूँ। अपने आप वैसा मनोमंडल बन गया। फिर क्या; अपनी संस्कृत शुरू की। संकल्प, गणेश-पूजन गौरी-पूजन, घट-पूजन, घट की प्राण-प्रतिष्ठा करने लगा। लोग प्रभावित हो गए। बैठे-खड़े जो जैसे रहे, रह गए, जैसे कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ते होता है। पूजन कराकर, हवन कराने लगा अँगली के पौरों में संख्या रख रहा हूँ दिखाता हुआ। घी मेरे पास था, साकल्य कुल्ली की स्त्री के पास। कुछ जाने-पहचाने नाम तो लिए' फिर जो भी जीभ के सामने आया, उसी के पीछे चतुर्थी छोड़कर 'स्वाहा' करने लगा। कह दिया था, मेरे कहने के बाद कुल्ली की स्त्री स्वाहा कहती थीं। हवन में जितनी देर लगती है, लगी। देखनेवाले अब तक पूर्ण रूप से आश्वस्त और विश्वस्त हो गए थे। पीछे की गर्द झाड़कर उठ-उठ चलने लगे थे। कुछ सहनशील बैठे हुए थे।

हवन पूरा हो जाने पर साल-भर ब्रह्मचर्य के साथ पति

की क्रिया करते रहने की प्रतिज्ञा कराई, यहाँ भी अपनी ही संस्कृत थी—'मैं 'पं० पथवारीदीन की धर्मपत्नी' की संस्कृत उपस्थित लोगों में प्रायः सभी समझे। सुनकर मुस्किराए। एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ी इस मुस्कान के भीतर मैंने कुल्ली की एकादशाह-क्रिया समाप्त की। यजमान को अशीर्वाद देकर सीधा भेज देने के लिये कहा और बाहर निकला।

बाहर निकल रहा था कि आलोचना सुन पड़ी—"सब ठीक हुआ। बन गई कुल्ली की।" थाँमकर गंभीर मुद्रा मे मैं ससुराल की तरफ़ बढ़ा।

शामको कुल्ली के यहाँ से सीधा आया। मैंनेसासुजी से कहा—"रखा लीजिए। आप लोग इससे कुछ न लीजिएगा। कल पूड़ी बना दीजिएगा।"

देखकर सासुजी ने कहा—"एक दफ़े में तुम्हारा खाया न खा जायगा, इतना घी है।" मैं गंभीर होकर रह गया।

दूसरे दिन सबेरे, जैसी आदत थी, चिकवे के यहाँ से गोश्त ले आया।

देखकर सासुजी ने कहा—"भैया, तुम तो आज पूड़ी खाने के लिये कहते थे।"

मैंने कहा—"कुल्ली की स्त्री पहले मुसलमानिन थीं; इसलिये प्रकृति ने उनके संस्कारों के अनुसार मुझे गोश्त खाने के लिये प्रेरित किया है। इसमें दोष नहीं।"